

जैन धर्मशास्त्रों और आधुनिक विज्ञान के आलोक में पृथ्वी

डा० दामोदर शास्त्री

(अ) प्रस्तावना

मानव एक चिन्तनशील प्राणी है।^१ वह अपने आसपास की वस्तुओं तथा वातावरण के रहस्य को समझने के लिए चिर काल से प्रयत्नशील रहा है। संसारी मानव की इन्द्रियों की प्रकृति बहिर्मुखी है, इसलिए अपने अन्तर की ओर झांकने की बजाय, उसका बाह्य जगत् के प्रति आकर्षित होना स्वाभाविक था।^२ असंख्य संसारी प्राणियों में से वह कोई धीर-वीर ही होगा जिसने सर्वप्रथम आत्म-तत्त्व को जानने का यत्न किया।^३

(क) भारतीय संस्कृति में पृथ्वी

मानव के साहित्यिक मस्तिष्क ने इस सृष्टि को किसी अदृश्य व दैवी महासाहित्यकार की अनुपम, मनोहर व चिरन्तन कृति के रूप में देखा।^४ उसके सौन्दर्यानुरागी स्वभाव ने प्रातःकालीन उषा को कभी एक सुन्दर नर्तकी के रूप में,^५ तो कभी एक बेभ्रमक संचरणशील नवयौवना नारी के रूप में^६ निहारा। और, यह धरती व आकाश—जिसकी छत्रछाया में वह रहता आया था—उसके लिए माता व पिता थे।^७

पृथ्वीमाता के प्रति भारतीय संस्कृति में कितना श्रद्धास्पद स्थान है, यह इसीसे प्रमाणित है कि प्रत्येक भारतीय हिन्दू प्रातःकाल उठते ही, समुद्रवसना व पर्वतस्तनमंडिता अलौकिक धरती माता के प्रति यह प्रार्थना करता है:—

१. मण्णति जदो णिच्चं मणेण णिउणा जदो दु ये जीवो । मणउक्कडा य जम्हा, तम्हा ते माणुसा भणिया (पंचसंग्र-हंप्राकृत, १/६२) ॥ गोम्मटसार-जीवकाण्ड, गाथा—१४६,
२. पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूः, तस्मात्पराड् पश्यति नान्तरात्मा (कठोप० २/४/१) ।
३. कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत् आवृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् (कठोप० २/४/१) ।
४. देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति (अथर्ववेद, १०/८/३२) ।
५. ऋग्वेद, १/६२/४
६. ऋग्वेद, ७/८०/२
७. (क) माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः (अथर्व० १२/१/१२) । तन्माता पृथिवी तत्पिता द्यौः (यजुर्वेद, २५/१७) । पृथिवी मातः (यजु० १०/२३) ।
(ख) जिज्ञासा व समाधान की प्रक्रिया के क्रम में ही सम्भवतः मानव ने पृथ्वी व अंतरिक्ष रूपी माता-पिता के भी जनक या पालक (परम-पिता) की कल्पना की होगी:— द्यावाभूमी जनयन्देव एकः (श्वेता० उप० ३/३) । द्यावापृथिवी बिभर्ति (ऋ० १०/३१/८) । तस्मिन् तस्थुर्भुवनानि विश्वा (यजु० ३१/१६) । एको विश्वस्य भुवनस्य राजा (ऋ० ६/३६/४) । क्षरात्मानावीशते देव एकः (श्वेता० उप० १/१०) ।
(ग) वैदिक ऋषि के अनुसार इस पृथ्वी पर अनेक धर्मों तथा अनेक भाषाभाषी लोगों का अस्तित्व रहता आया है— 'जनं विभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम्' (अथर्व० १२/१/४५) ।

जैन धर्म एवं आचार

१२६

समुद्रवसन देवि ! पर्वतस्तनमंडिते ।

विष्णु-पत्नि ! नमस्तुभ्यं पादस्पर्श क्षमस्व मे ॥

(ख) पृथ्वी के स्वरूप की जिज्ञासा

पृथ्वी के प्रति श्रद्धालु मानव के मन में यह भी जिज्ञासा पैदा हुई कि आखिर यह पृथ्वी कितनी बड़ी है, कैसी है, कहाँ, कब, और कैसे इसकी उत्पत्ति हुई ?

वैदिक ऋषि दीर्घतमा इस पृथ्वी की सीमा को जानने की उत्सुकता व्यक्त करता हुआ दृष्टिगोचर होता है।^१

श्वेताश्वतर उपनिषद् का ऋषि भी यह जिज्ञासा लिए हुए हैं कि हम कहाँ से पैदा हुए हैं ?^२ और हम सब का अवस्थान किम पर आधारित है ?^३

उपर्युक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि भारतीय चिन्तक इस पृथ्वी व सृष्टि के विषय में सतत जिज्ञासु थे, और उन्होंने अपने तपोमय अध्यात्मसाधना के द्वारा, जिस सत्य का साक्षात्कार किया, वह हमारे धर्म-ग्रन्थों में निबद्ध है।

(आ) जैन साहित्य में पृथ्वी

जैन साहित्यकारों ने भी इस पृथ्वी को एक सुन्दर नारी के रूप में देखा। आर्यावर्त उस पृथ्वी का मुख है, समुद्र जिसकी करधनी है, वन-उपवन जिसके सुन्दर केश हैं, विन्ध्य और हिमाचल पर्वत जिसके दो स्तन हैं, ऐसी पृथ्वी (माता) एक सती साध्वी नारी की तरह शोभित हो रही है।^४ किन्तु, जैन दर्शन एक निवृत्तिप्रधान धर्म है,^५ इसलिए साधक का अन्तिम लक्ष्य यही होता है कि वह सिद्धि-रूपी कान्ता का वरण करता हुआ,^६ इस मर्त्य पृथ्वी की अपेक्षा, सिद्ध-लोक की 'ईषत्प्राग्भार' पृथिवी (माता) की छत्र-छाया में पहुँचे।^७

(१) पृथ्वी-सम्बन्धी जिज्ञासा : जैन दृष्टि से

जैन दृष्टि से इस पृथिवी-तल पर अधिकार करने की अपेक्षा इसके स्वरूपादि का ज्ञान प्राप्त करना आध्यात्मिक दृष्टि से अधिक श्रेयस्कर है। इसके पूर्ण व वास्तविक रूप को जानकर साधक के मन में यह विचार स्वतः उठ खड़ा होगा कि इस पृथ्वी के प्रत्येक प्रदेश

१. पृच्छामि त्वां परमन्तं पृथिव्याः (ऋग्वेद—१/१६४/३४) । यजुर्वेद—२३/६१,
२. कि कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाताः, जीवाम केन क्व च संप्रतिष्ठाः (श्वेता० उप० १/१) ।
३. श्वेता० उप० (वहीं) । कुत आ जाता कुत इयं विसृष्टिः (ऋ० १०/१२६/६—नासदीय सूक्त) । तैत्ति० ब्राह्मण—२/८/६
४. (क) उद्वहन्तीं स्तनौ तुंगौ, विन्ध्यप्रालेयपर्वतौ । आर्यदेशमुखीं रम्यां नगरीवलर्ययुताम् । अब्धिकाञ्चीगुणां नीलसत्कानन-शिरोरुहाम् । नानारत्नकृतच्छायाम्, अत्यन्तप्रवणां सतीम् (रविषेणकृत पद्मपुराण—११/२८६-८७) ॥ विन्ध्यकैलाश-वक्षोजां पारावारोर्मिमेखलाम् (जैन पद्मपु० ११४/२२) ।
(ख) जैन आचार्यों की दृष्टि में पृथ्वी एक सहनशील व्यक्तित्व का प्रतिनिधित्व करती है। इसीलिए मुनि की परीषहजयता को बताने के लिए पृथ्वी से उपमा शास्त्रों में दी गई है—खिदि-उरगंबरसरिसा...साहू (धवला, १/१/१, पृ० ५२), वसुधरा इव सव्वफासविसहा (औपपातिक सूत्र—सू० १६) । वसुधरा चैव सुदुह्यहुए (स्थानांग—६/६६३ गा० २) ।
५. निवृत्ति भावयेद् (आत्मानुशासन—२३६) । संन्यस्तव्यमिदं समस्तमपि तत्कर्मैव मोक्षार्थिना (समयसार-कलश, १०६) । आस्रवो भवहेतुः स्यात् संवरो मोक्षकारणम् (वीतरागस्तोत्र— १६/६) । सेण भंते, अकिरिया किफला, सिद्धिपज्जवसाणफला (भगवती सू० २/५/२६) । एतं सकम्मविरियं बालाणं तु पवेदितं । एत्तोअकम्मविरियं पंडियाण सुणेह मे (सूत्रकृतांग—१/८/६) ।
६. ये निर्वाणवधूटिकास्तनभराश्लेषोत्थसौख्याकराः...तान् सिद्धानभिनाम्यहं (नियमसार-कलश, २२४) । धर्मः किं न करोति मुक्कितललनासम्भोगयोग्यं जनम् (ज्ञानार्णव—४/२२) । सिद्धिश्चियालिगितः (उत्तरपुराण. ५०/६८) ।
७. (क) यः परित्यज्य भूभार्यां मुमुक्षुर्भवसंकटम् (पद्म पु० ११/२८८) । यावत्तस्थौ महीं त्यक्त्वा गृहीत्वा सिद्धियोषिताम् (पद्म पु० ११४/२२) ।
(ख) तन्वी मनोज्ञा सुरभिः पुण्या परमभास्वरा । प्राग्भारा नाम वसुधा, लोकमूर्ध्नि व्यवस्थिता । ऊर्ध्वं यस्याः क्षितेः सिद्धाः लोकान्ते समवस्थिताः (तत्त्वार्थसू० भाष्य, अ० १०, उपसंहार, श्लो० १६-२०) ॥

पर वह अनन्तों बार जन्म-मरण के चक्र से गुजर चुका है।^१ उस चक्र से छूटने के उपाय को जानने हेतु वह सतर्क हो सकता है। भोगभूमि, कर्म भूमि, म्लेच्छ-भूमि, नरक-भूमि—इन सब के स्वरूप को जानकर साधक पुण्य-पाप के सुफल-दुष्फलादि से सहज परिचित हो जाता है, और असत् कर्मों से निवृत्त होता हुआ सत्कर्मों की ओर अग्रसर हो जाता है। कर्म-भूमि में भी वहाँ उनके निवासियों के बारे में जानकारी प्राप्त करने के उपरान्त, उसकी यह सहज आकांक्षा उदित होगी ही, कि असंख्य प्राणियों में पुरुषोत्तम—‘अहंत्’ आदि—की स्थिति क्यों न प्राप्त की जाय।

संक्षेप में, इस पृथ्वी के स्वरूपादि-ज्ञान से मनुष्य को उसकी अनन्त यात्रा का अतीत, वर्तमान व भविष्य स्पष्ट हो जाता है। वह अपने निरापद गन्तव्य का निर्धारण कर सकने में समर्थ होता है। इसीलिए, आचार्य विद्यानन्दि ने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में प्रतिपादित किया है कि समस्त लोक का, तथा पृथ्वी पर स्थित जम्बूद्वीपादि का निरूपण शास्त्रों में न हो, तो जीव अपने स्वरूप से ही अपरिचित रह जाएगा। ऐसी स्थिति में, आत्म-तत्त्व के प्रति श्रद्धान, ज्ञान आदि की सम्भावना ही समाप्त हो जाएगी।^२ अतः आचार्य विद्यानन्दि ने परामर्श दिया है कि हम सब जैन-आगमों का, तथा उसके ज्ञाता सद्गुरुओं का आश्रय लेकर, किसी भी तरह, मध्य लोक का परिज्ञान तथा उस पर विचार-विमर्श करें।^३

(२) जैन परम्परा में सृष्टि-विज्ञान का आध्यात्मिक महत्त्व

यहां यह उल्लेखनीय है कि वैदिक परम्परा में भी उक्त चिन्तन व विमर्श की प्रेरणा ऋषियों द्वारा दी गई है। अन्नपूर्णापनिषद् में कहा गया है कि हमें अपने अन्दर की सत्ता के साथ-साथ बाह्य सत्ता के स्वरूप की भी छानबीन करनी चाहिए।^४

जैन परम्परा में भी सृष्टि-विज्ञान की चर्चा तात्त्विक व धर्म-चर्चा के रूप में मान्य है। जैन सृष्टि-विज्ञान भौतिक विज्ञान की सीमित परीक्षण-पद्धति पर आधारित नहीं, वह तो सर्वज्ञ जिनेन्द्र-देव के स्वतः तपः-साधना द्वारा अधिगत लोकालोकज्ञता में, स्पष्ट व प्रत्यक्षतया, झलकते हुए समस्त बाह्य विश्व का निरूपण है।^५

जैन परम्परा में सृष्टि-विज्ञान का आध्यात्मिक दृष्टि से अत्यधिक महत्त्व है—इसके स्पष्ट प्रमाण निम्नलिखित हैं :—

(१) मोक्ष का प्रमुख साधन ध्यान है। ध्यान से संवर, निर्जरा व मोक्ष—तीनों होते हैं।^६ ध्याता को मोक्ष यदि न भी प्राप्त हो, पुण्यास्रव तो सम्भावित है ही।^७ अस्तु, पुण्यास्रव की स्थिति में भी ध्याता को परम्परया मोक्ष भी मिलेगा।^८ इसलिए,

१. सो को वि णत्थि देसो लोयालोयस्स णिरवसेसस्स । जत्थ ण सव्वो जीवो जादो मरिदो य बहुवारं (कार्तिकेयानुप्रेक्षा—६८) ॥
२. तदप्ररूपणे जीव-तत्त्वं न स्यात् प्ररूपितम् । विशेषेणेति तज्ज्ञान-श्रद्धाने न प्रसिद्धयतः ॥ तन्नित्त्वन्धनमक्षुण्णं चारित्रं च तथा क्व नु । मुक्तिमार्गोपदेशो नो शेषतत्त्वविशेषवाक् (तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, सू० ३/३६, खंड-५, पृ० ३६६) ॥
तेषां हि द्वीपसमुद्रविशेषाणामप्ररूपणे मनुष्याधाराणां नारकतिर्यग्देवाधाराणामप्यप्ररूपणप्रसंगान्न विशेषेण जीवतत्त्वं निरूपितं स्यात्, तन्निरूपणाभावे च न तद्विज्ञानं श्रद्धानं च सिद्धयेत्, तद्-असिद्धौ श्रद्धानज्ञाननिबन्धनमक्षुण्णं चारित्रं च क्व नु सम्भाव्यते ? मुक्तिमार्गश्च क्वैवम् ? शेष-अजीवादितत्त्ववचनं च नैवं स्यात् । ततो मुक्तिमार्गोपदेशमिच्छता सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राण्युपगन्त-व्यानि । तदन्यतमापाये मुक्तिमार्गानुपपत्तेः, तानि चाभ्युपगच्छता तद्विषयभावमनुभवत् जीवतत्त्वमजीवादितत्त्ववत् प्रतिपत्तव्यम् । तत्प्रतिपद्यमाने च तद्विशेषा आधारादयः प्रतिपत्तव्याः (वहीं, पृ० ३६६) ॥
३. द्वीपसमुद्रपर्वतक्षेत्रसरित्प्रभृतिविशेषः सम्यक् सकलनैगमादिनयेन ज्योतिषा प्रवचनमूलसूत्रैर्जन्यमानेन कथमपि भावयद्भिः सद्भिः, स्वयं पूर्वापरशास्त्रार्थपर्यालोचनेन प्रवचनपदार्थविदुपासनेन च अभियोगादिविशेषविशेषेण वा प्रपंचेन परिवेद्यः (वहीं, पृ० ४८६, त० सू० ३/४० पर श्लोकवार्तिक) । (तुलना-संशीतिः प्रलयं प्रयाति सकला भूलोकसम्बन्धिनी—हरिवंशपुराण—५/७३५) ॥
४. कोहं कथमिदं किं वा कथं मरणजन्मनी । विचारयान्तरे वेत्थं महत्तत् फलमेष्यसि (अन्नपूर्णापनिषद्, १/४०) ॥
५. त्रैलोक्यं सकलं त्रिकालविषयं सालोकमालोकितम्, साक्षाद् येन यथा स्वयं करतले रेखात्रयं सांगुलि (अकलंकस्तोत्र, १) । सालोकानां त्रिलोकानां यद्-विद्या दर्पणायते (रत्नकरण्ड—१/१) । लोकप्रकाश—३/६३४-३५,
६. तपोजातीयत्वात् ध्यानानां निर्जराकारणत्वप्रसिद्धिः (राजवार्तिक, ६/३/३) । कुरु जन्माब्धिमत्येतुं ध्यानपोतावलम्बनम् (ज्ञानार्णव—३/१२) । हैमयोगशास्त्र—४/११३, पंचास्तिकाय—६/२६ ।
७. शुभध्यानफलोद्भूतां श्रियं त्रिदशसम्भवाम् । निविशन्ति नरा नाके क्रमाद्यान्ति परं पदम् (ज्ञानार्णव—३/३२) ॥ ह्येति सुहासवसं-वरणिज्जरामरसुहाइं विपुलाइं । ज्ञाणवरस्स फलाइं, सुहाणुबंधीणि धम्मस्स (धवचा—१३/५, ४, २६/५६) ॥ हैमयोग शास्त्र—१०/१८-२१, त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित—२/३/८०४,
८. स्वशुद्धात्मभावनाबलेन संसार-स्थितिं स्तोकं कृत्वा देवलोकं गच्छति, तस्माद् आगत्य मनुष्यभवे रत्नत्रयभावनाया संसारस्थितिं स्तोकं कृत्वा पश्चान्मोक्षं गताः । तद्भावे सर्वेषां मोक्षो भवतीति नियमो नास्ति (द्रव्यसंग्रह, ५७ पर टीका) । हैम-योगशास्त्र, १०/२२-२४,

जैन धर्म एवं आचार

१३१

आ० हेमचन्द्र ने धर्म-ध्यान को मोक्ष व स्वर्ग—दोनों का साधक बताया है ।^१

ध्यान के चार भेदों में तीसरा भेद 'धर्म ध्यान' है ।^२ लोक के स्वभाव, आकार, तथा लोकस्थित विविध द्वीपों, क्षेत्रों समुद्रों आदि के स्वरूप के चिन्तन में मनोयोग केन्द्रित करना 'संस्थान-विचय' धर्मध्यान है ।^३ 'संस्थान-विचय' धर्म ध्यान के विशेष फल इस प्रकार हैं—(१) लेश्याविशुद्धि, तथा (२) रागादि-आकुलता में कमी ।^४

धर्मध्यान-रूप 'संस्थान-विचय' (लोक विचय) के चार भेद माने गए हैं—(१) पिण्डस्थ, (२) पदस्थ, (३) रूपस्थ, (४) रूपातीत ।^५ इनमें 'पिण्डस्थ' धर्मध्यान की पाँच धारणाएँ हैं—(१) पार्थिवी, (२) आग्नेयी, (३) मास्ती, (४) वाहणी, (५) तत्त्वरूपवती ।^६ इनमें पार्थिवी धारणा के अन्तर्गत, साधक मध्यलोकवत्-क्षीरसमुद्र के मध्य जम्बूद्वीप को एक कमल के रूप में चिन्तन करता है । इस कमल में मेरु-पर्वत रूपी दिव्य कर्णिका होती है ।^७

(२) ध्यान से मिलती-जुली क्रिया 'भावना' या 'अनुप्रेक्षा' है । वे एक प्रकार की चिन्तन-धाराएँ हैं जो बार-बार की जाती हैं । जब इसी चिन्तन-धारा में एकाग्र-चिन्ता-निरोध हो जाता है तो 'ध्यान' की स्थिति हो जाती है ।^८ अनुप्रेक्षाएँ बारह हैं, उनमें 'लोकानुप्रेक्षा' के अन्तर्गत, विश्व के वास्तविक स्वरूप का चिन्तन किया जाता है, जिसका फल चित्त-विशुद्धि, एवं ध्यान-प्रवाह की विरति को कम या समाप्त करना आदि है ।^९

(३) लोक के स्वरूप को बार-बार चिन्तन करने से स्वद्रव्यानुरक्ति, परद्रव्य-विरक्ति,^{१०} तथा समस्त कर्म-मल-विशुद्धि का आधार दृढ़ होता है ।^{११} इसी दृष्टि से, आचारांग सूत्र में लोक-सम्बन्धी ज्ञान के अनन्तर ही विषयासक्ति के त्याग में पराक्रम करने का निर्देश है ।^{१२}

(४) लोक-सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त करने के बाद ही, धर्म का निरूपण करना श्रेयस्कर माना गया है ।^{१३}

१. स्वर्गापवर्गहेतुधर्मध्यानमिति कीर्तितं यावत् (हैम-योगशास्त्र, ११/१) ।
२. आतंरौद्रधर्मशुक्लानि (त० सू० ६/२६, दिग० पाठ में ६/२८) ।
३. लोकसंस्थानस्वभावावधानं संस्थानविचयः । तदवयवानां च द्वीपादीनां तत्त्वभावावधानं संस्थानविचयः (राजवार्तिक, ६।३६।१०) । लोकस्याधस्तित्यं विचिन्तयेद्दुर्ध्वमपि च बाहुल्यम् । सर्वत्र जन्ममरणे रूपिद्रव्योपयोगांश्च (प्रशमरतिप्रकरण, १६०) ॥ त्रिभुवनसंस्थानस्वरूप-विचयाय स्मृतिसमन्वाहारः संस्थानविचयो निगद्यते (त० सू० ६।३६ पर श्रुतसागरीय वृत्ति) । हैमयोगशास्त्र, १०/१४, आदि पुराण—२१/१४८-१४९, हरिवंशपुराण—६/१४०, ६३/८८, पाण्डव पु० २५/१०८-११०, ध्यानशतक—५२,
४. नानाद्रव्यगतान्तर्पर्यायपरिवर्तनात् । सदासक्तं मनो नैव रागाद्याकुलतां ब्रजेत् ॥ धर्मध्याने भवेद् भावः क्षायोपशमिकादिकः । लेश्याः क्रमविशुद्धाः स्युः पीतपद्मसिताः पुनः (हैमयोग शास्त्र—११/१५-१६) ॥
५. ज्ञानार्णव—३४/१, हैमयोगशास्त्र—७/८,
६. ज्ञानार्णव—३४/२-३, हैमयोगशास्त्र—७/९,
७. ज्ञानार्णव—३४/४-८, हैमयोगशास्त्र—७/१०-१२,
८. राजवार्तिक, ६/३६/१२ (अनित्यादिविषयचिन्तनं यदा ज्ञानं तदा अनुप्रेक्षा-व्यपदेशो भवति, यदा तत्रैकाग्रचिन्तानिरोधस्तदा धर्मध्यानम्) ।
९. त० सू० ६/७, हैमयोगशास्त्र—४/५५-५६, लोकस्य संस्थानादिविधिव्यख्यातः । तत्त्वभावानुचिन्तनं लोकानुप्रेक्षा । एवं ह्यस्याध्यवस्यतः तत्त्वज्ञानादिविशुद्धिर्भवति (राजवार्तिक, ६।७।८) ।
१०. द्र० पंचास्तिकाय—१६७-१६८, समयसार—१०।१०५,
११. स्वतस्वरक्तये नित्यं परद्रव्यविरक्तये । स्वभावो जगतो भाव्यः समस्तमलशुद्धये (योगसार-प्राभूत-अमितगतिकृत, ६।३२) ॥
१२. विदित्ता लोगं वंता लोगसण्णं से मइयं परक्कमेज्जासि (आचारांग, १।३।१।२५) ।
१३. सूत्रकृतांग—२।६।२।४६-५०

(५) जैन साहित्य को चार अनुयोगों (विषयों) में विभाजित किया गया है।^१ एक अनुयोग के अन्तर्गत, सृष्टिविज्ञान-सम्बन्धी साहित्य का समावेश किया गया है। दिगम्बर परम्परा में यह अनुयोग 'करणानुयोग' के नाम से,^२ तथा श्वेताम्बर परम्परा में 'गणितानुयोग' के रूप में^३ प्रसिद्ध है।

(६) जैन पुराणों का वर्ण्य विषय सृष्टि-वर्णन भी है। स्वयं जिनेन्द्र देव ने त्रिलोक-स्वरूप का निरूपण किया है।^४ पुराणों का परिगणन 'धर्मकथा' के अन्तर्गत किया जाता है।^५ धर्मकथा को स्वाध्याय के रूप में 'तप' माना गया है।^६ अतः पुराणादि-वर्णित सृष्टि-विज्ञान की सामग्री के मनन का भी होना स्वाध्याय के अनुष्ठान से स्वाभाविक है।

सृष्टि-विज्ञान की सामग्री से परिपूर्ण 'चन्द्रप्रज्ञप्ति' तथा 'सूर्यप्रज्ञप्ति' का स्वाध्याय-काल प्रथम ब अंतिम पौरुषी में विहित माना गया है।^७

आ० पद्मनन्दिकृत 'जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति' (दिगम्बर ग्रन्थ) के अनुसार, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति को पढ़ने व सुनने वाला मोक्ष-गामी होता है।^८ इस प्रकार, सृष्टि-विज्ञान-सम्बन्धी साहित्य का श्रवण-मनन आध्यात्मिक दृष्टि से उचित व अपेक्षित सिद्ध होता है।

(७) अंगप्रविष्ट जैन द्वादशांगी तथा अंगबाह्य साहित्य में सृष्टि-विज्ञान-सम्बन्धी प्रचुर सामग्री भरी पड़ी है। इसके अतिरिक्त, जैन आचार्यों ने सृष्टि-निरूपण से सम्बन्धित अनेक स्वतंत्र ग्रन्थों की रचना की है।^९ इन सबसे यह स्पष्ट हो जाता है कि जैन परम्परा में सृष्टि-विज्ञान का अध्ययन-अध्यापन अत्यन्त श्रद्धा व रुचि का विषय रहा है।

प्रस्तुत शोध-पत्र में जैन आगमों में प्राप्त पृथ्वी-सम्बन्धी निरूपण को प्रस्तुत करते हुए आधुनिक विज्ञान के आलोक में उसका समीक्षण किया जा रहा है :—

(३) पृथ्वियों की संख्या

जैन परम्परा में पृथ्वियों की संख्या कहीं सात,^{१०} तो कहीं आठ^{११} भी बताई गई है।

१. आर्यरक्षित ने (वि० सं० प्रथमशती) ने शिक्षार्थी श्रमणों की सुविधा के लिए आगम-पठन पद्धति का चार भागों में विभाजित किया (द्र० नन्दी थेरावली-२, गाथा-१२४)। विशेषावश्यकभाष्य—२२८६-२२९१,

अनुयोगों के नाम दिगम्बर-परम्परा में इस प्रकार हैं—(१) प्रथमानुयोग, (२) करणानुयोग, (३) चरणानुयोग, (४) द्रव्यानुयोग। श्वेताम्बर-परम्परा में नाम इस प्रकार हैं—(१) चरणकरणानुयोग, (२) धर्मकथानुयोग, (३) गणितानुयोग, (४) द्रव्यानुयोग। (द्र० आवश्यकनिर्युक्ति-गा० ७७३-७४, सूत्रकृतांग चूर्ण, पत्र-४, आवश्यक-वृत्ति—पृ० ३०, रत्नकरंड-श्रावकाचार-४३-४६, द्रव्यसंग्रह—४२ पर-टीका

२. रत्नकरण्डश्रावकाचार, १।४३-४४, आदिपुराण—२।९६,

३. आवश्यक-निर्युक्ति—१२४,

४. त्रिजगत्समवस्थानं नरकप्रस्तरानपि । द्वीपाब्धिहृदशैलादीनप्यथास्मायुपादिशत् (आदिपुराण—२।४।१५७) । तिलोयपण्णत्ति—१।६०,

जैन पुराणों का वर्ण्य विषय सृष्टि-वर्णन भी है—'जगत्-त्रयनिवेशश्च त्रैकाल्यस्य च संग्रहः । जगतः सृष्टिसंहारौ चेति कृत्स्नमिहोद्यते' (आदिपुराण—२।१।९६) । हरिवंश पुराण—१।७१, पद्मपुराण—१।४३,

५. आदि पु० १।२४, १।६२-६३, १।१०७-१।१६, पद्मपुराण—१।३६, १।२७, हरिवंशपुराण—१।१२७,

६. द्र० त० सू० ६।२०, ६।२५, भगवती आराधना—१०७, भगवतीसूत्र—२।७।८०१, स्थानांग—५।३।५४१, मूलाचार—३।६३, उत्तराध्ययन—३।०।३४, २।६।२७,

७. स्थानांग—३।१।१३६,

८. जंबूद्वीपपण्णत्ति (दिग०)—१३/१५७

९. द्रष्टव्य-सत्यशोध यात्रा (प्र० वर्द्धमान जैन पेढी, पालीताना), पृ० ४२-६६,

१०. हरिवंश पु० ४/४३-४५, भगवती पु० १२/३/१-२ (गोयमा, सत्त पुढवीओ पन्नत्ताओ) । स्थानांग—७/६६६ (२३-२४), त्रिषष्टि० २।३।४८६, लोकप्रकाश-विनय-विजयगणि-रचित, १।१।६०-१।६२,

११. तिलोयपण्णत्ति—२।२४, धवला—१।४।५, ६, ६४ । गोयमा ! अट्ठ पुढवीओ पण्णत्ताओ । तं जहा—रयणप्पभा जाव ईसीपब्भारा' (भगवती सू० ६।८।१) । स्थानांग—८।८४१ (१०८) । प्रज्ञापनासूत्र—२।७६ (१) ।

आठ पृथ्वियों के नाम इस प्रकार हैं—

- (१) रत्नप्रभा
- (२) शर्कराप्रभा
- (३) बालुकाप्रभा
- (४) पंकप्रभा
- (५) धूमप्रभा
- (६) तमःप्रभा
- (७) महातमःप्रभा^१
- (८) ईषत्प्राग्भारा,

जिस मध्यलोक में हम निवास कर रहे हैं, वह रत्नप्रभा पृथ्वी का ऊपरी पटल (चित्रा) है, जिसका विस्तार (लम्बाई व चौड़ाई आदि) असंख्य सहस्र योजन है।^२ किन्तु इसमें मनुष्य-लोक जितने क्षेत्र में है, वह ४५ लाख योजन लम्बा-चौड़ा, तथा १४२३०४६ योजन परिधि वाला है।^३

सबसे छोटी और आठवीं पृथ्वी ऊर्ध्वलोक में (सभी देव-कल्पविभागों से परे) है,^४ जहां सिद्ध-क्षेत्र (मुक्त आत्माओं का निवास) अवस्थित है।^५ बाकी सात पृथ्वियां मध्यलोक के नीचे हैं, जहां नरक अवस्थित हैं।^६

ये सभी पृथ्वियां द्रव्य की दृष्टि से शाश्वत हैं—इनका कभी नाश नहीं होता।^७

१. सात पृथ्वियों के वास्तविक नाम इस प्रकार हैं—धम्मा, वंशा, सेला, अंजना, अरिष्ठा, मघा, माघवती। रत्नप्रभा आदि नाम नहीं, अपितु 'धम्मा' आदि तो पृथ्वियों के गोत्र हैं। द्र० स्थानांग—७।६६६ (सुत्तागमो-भा० २, पृ० २७८), भगवती सूत्र—१२।३।३, जीवाभिगम सूत्र—३।१।६७, लोकप्रकाश—१२।१६३-१६४, त्रिलोकसार—१४५, तत्त्वार्थसूत्र-भाष्य—३।१, तिलोयपण्णत्ति—१/१५३ वरांग-चरित—१।१२, हरिवंश पु० ४।४६, त० सू० ३।१ पर श्रुतसागरीय टीका में 'धम्मा' आदि संज्ञाएं नरकभूमियों की हैं।
२. रपणप्पभा पुढवी केवइयं आयामविकखंभेणं पन्नत्ते। गोयमा, असंखेज्जाइं जोयणसहस्साइं आयामविकखंभेण असंखेज्जाइं जोयण-सहस्साइं परिकखेवेणं पण्णत्ता (जीवाजीवाभिगमसूत्र—३।१।७६)। तत्थ पढमपुढवीए एकरज्जुविकखंभा सत्तरज्जुदीहा बीससहस्सूण वेजोयणलक्खबाहल्ला (तिलोयपण्णत्ति, १।२८३ पृ० ४८)। प्रथम पृथ्वी एक राजू विस्तृत, सात राजू लम्बी तथा एक लाख अस्सी हजार योजन मोटी है। राजू का प्रमाण असंख्यात योजन है (प्रमाणांगुलनिष्पन्नं योजनानां प्रमाणतः। असंख्यकोटाकोटी-भिरैका रज्जुः प्रकीर्तिता—लोकप्रकाश, १।६४)। आधुनिक विद्वानों के मत में राजू लगभग १.१६ × १०^{१५} मील के समान है।
३. तिलोयपण्णत्ति—४।६-७, हरिवंशपुराण—५-५६०, जीवाभिगमसूत्र—३।२'१७७, बृहत्क्षेत्र समास-५, स्थानांग-३।१।३२,
४. ऊर्ध्वं तु एकैव (त० सू० भाष्य, ३।१)। नृलोकतुल्यविष्कम्भा (त० सू० भाष्य, दशमाध्याय, उपसंहार, श्लोक-२०)। इस पृथ्वी का विस्तार (लम्बाई-चौड़ाई) ४५ लाख योजन है जो मनुष्य क्षेत्र के समान है। इसकी परिधि एक करोड़ बयालीस लाख तीस हजार दो सौ उनचास योजन से कुछ कम मानी गई है—द्र० औपपातिक सूत्र—४२, स्थानांग ३।१।३२, ८।१०८, दिगम्बर मत में ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी एक राजू चौड़ी तथा सात राजू लम्बी है (तिलोयपण्णत्ति, ८।६५२-५८)।
किन्तु इस पृथ्वी के बहुमध्यभाग में 'ईषत्प्राग्भार' क्षेत्र है जिसका प्रमाण ४५ लाख योजन है (तिलोयपण्णत्ति—८।६५६-५८, हरिवंश पु० ६।१२६),
५. तिलोयपण्णत्ति-६।३, भगवती आराधना-२१३४, २१२७
६. त० सू० ३/२, ज्ञानार्णव-३३/१०, त्रिषष्टि० २/३/४८५, हरिवंश पु० ४/७१-७२, प्रज्ञापना सूत्र, २/६६ (सुत्तागमो, २ भाग, पृ० २६४)। जीवाजीवाभिगम-३/२, सू० ८१, लोकप्रकाश-६/१
७. जीवाजीवाभिगम सूत्र, सू० ३/१/७८ व ३/२/८५. जंबूद्वीपपण्णत्ति (श्वेताम्बर)-७/१७७ (सुत्तागमो, भा० २, पृ० ६७१)।

(४) पृथ्वियों की स्थिति व आधार

रत्नप्रभा आदि पृथ्वियों में प्रत्येक, तीन-तीन वातवलयों के आधार पर प्रतिष्ठित हैं। इनके नाम हैं—(१) घनोदधि, (२) घनवात, (३) तनुवात। ये वातवलय आकाश पर प्रतिष्ठित हैं।^१ प्रत्येक पृथ्वी को ये वातवलय वलयाकार रूप से वेष्टित किए हुए हैं। पृथ्वी को घनोदधि, घनोदधि को घनवात, घनवात को तनुवात वेष्टित किए हुए है।^३

रत्नप्रभा पृथ्वी के तीन काण्ड (विभाग) हैं,—(१) खर, (२) पंक, (३) अब्बहुल।^३ इनमें खरकाण्ड के १६ विभाग हैं।^४ इस प्रकार, प्रथम पृथ्वी और द्वितीय पृथ्वी के मध्य निम्नलिखित प्रकार से (ऊपर से नीचे की ओर) स्थिति समझनी चाहिए :—

(१) रत्नप्रभा पृथ्वी का खर भाग (१६ हजार योजन का)^५

(२) ,, ,, पंक भाग (८४ हजार योजन)

(३) ,, ,, अब्बहुल भाग (८० हजार योजन)

रत्नप्रभा पृथ्वी का समस्त बाह्य (मोटाई) एक लाख अस्सी हजार योजन फलित होता है।^६

(४) (पृथ्वी के नीचे) घनोदधि वातवलय (२० हजार योजन मोटा)^७ (सर्वाधिक सघन)

(५) घनवातवलय (तनुवात वलय की तुलना में अधिक सघन) (२० हजार योजन मोटा)^८

(६) तनुवातवलय (घनोदधि व घनवात की तुलना में अत्यन्त सूक्ष्म व पतला) (२० हजार योजन मोटा)

(७) आकाश

(८) द्वितीय पृथ्वी—शर्कराप्रभा

(इससे नीचे पुनः घनोदधि, घनवात, तनुवात वलय हैं।)^९

रत्नप्रभा से लेकर महत्तमःप्रभा तक सातों पृथ्वियां एक दूसरे के नीचे छत्रातिष्ठत्र के समान आकार बनाती हुई स्थित हैं। इस सन्दर्भ में तुलनात्मक दृष्टि से बृहदारण्यक उपनिषद् का वह कथन मननीय है जो समस्त धरातल को जल से, जल को

१. हरिवंश पु० ४/४२, ४/३३, तिलोय-१/२६८-६६, त० सू० भाष्य-३/१, ठाणांग-३/२/३१६, ७/१४-२२, ८/१४, २/३/५०२, लोक प्रकाश-१२/१७७-१७८, ज्ञानार्णव-३३/४-७, जीवाजीवाभिगम, सू० ३/१/७१-७६,
२. रत्नप्रभा आदि सातों पृथ्वियां ऊर्ध्व दिशा को छोड़ कर शेष नौ दिशाओं में घनोदधि से छूती हैं, आठवीं पृथ्वी दसों दिशाओं में घनोदधि से छूती है (तिलोयप-२/२४)।
वातवलयों के परिमाण आदि की जानकारी हेतु देखें—लोकप्रकाश-१२/७६-१६०, त्रिलोकसार १२३-१४२, तिलाय प० १/२७०-८२,
३. तिलोय प० २/६, त्रिलोकसार-१४६, जीवाजीवाभिगम, सू० ३/१/६६, ठाणांग-१०/१६१-१६२,
४. तिलोय प० २/१०, जीवाजीवा सू ३/१/६६, ठाणांग-१०/१६३, लोकप्रकाश-१२/१७१,
५. लोकप्रकाश-१२/१६६-७० तिलोय प० २/६, जंबूद्वीव पण्णत्ति (दिग०) ११/११६,
६. हरिवंश पु० ४/४७-४६, लोकप्रकाश-१२/१६८, जीवाजीवा० सू० ३/१/६८,
७. प्रत्येक वातवलय (वायुमण्डल) की मोटाई बीस हजार योजन है (त्रिलोकसार-१२४, तिलोय प० १/२७०)। श्वेताम्बर परम्परा में घनोदधि की मोटाई (मध्यगत बाह्य) बीस हजार योजन, घनवात एवं तनुवात की असंख्य सहस्र योजन मानी गई है (जीवाजीवाभिगम सू० ३/१/७२, लोकप्रकाश-१२/१८०, १८३, १८६)। प्रत्येक वातवलय के विष्कम्भ (प्रत्येक पृथ्वी के पार्श्व भाग में मोटाई) के सम्बन्ध में भी दोनों परम्परा मतभेद रखती है। इस सम्बन्ध में दिग० परम्परा के ग्रन्थ-तिलोयपण्णत्ति (१/२७१), तथा त्रिलोकसार (१२५), जंबूद्वीव प० (दिग०) ११/१२२ आदि द्रष्टव्य हैं। श्वेताम्बर परम्परा के ग्रन्थों में जीवाजीवाभिगम (सू० ३/१/७६) तथा लोकप्रकाश (१२/१८२-१६०) आदि उल्लेखनीय हैं।
८. तिलोय प० २/२१, त्रिषष्टि० २/३/४६१-६३, त० सू० ३/१ भाष्य। आकासपइट्ठिए वाये, वायपइट्ठिए उदही, उदहीपइट्ठिया तसा थावरा पाणा (भगवती सू० १/६/५४)।

वायु से, वायु को आकाश से ओतप्रोत बताता है।^१ तैत्तिरीय उपनिषद् का वह कथन भी यहां मननीय है जिसके अनुसार आकाश से वायु का, वायु से अग्नि का, अग्नि से जल का, तथा जल से पृथ्वी का उद्गम माना गया है।^२

[आकाश, वायु, आग की लपटें, जल— इनमें उत्तरोत्तर सघनता है। घनोदधि शब्द में आए हुए उदधि (जल-सागर) शब्द से, तथा जैनागमनिरूपित 'गोमूत्र'वत् वर्ण से इसकी जल से समता प्रकट होती है। सम्भव है, घनोदधि जमे बर्फ की तरह ठोस चट्टान जैसा हो। 'तनु वात' सूक्ष्म व तरल वायु हो, इसकी तुलना में अधिक सघन 'घनवात' आग की लपटों की तरह अधिक स्थूल हो। घन यानी मेघ, मेघ में वायु बिजली का रूप धारण करती है, बिजली अग्नि का एक रूप है। इस दृष्टि से घनवात को 'अग्नि' के रूप में वर्णित किया गया प्रतीत होता है। इस सम्बन्ध में तुलनात्मक अध्ययन-हेतु एक पृथक् शोध-पत्र अपेक्षित है।]

बौद्ध ग्रन्थों में भी ऐसा वर्णन मिलता है जिसके अनुसार पृथ्वी जल पर, जल वायु पर, तथा वायु आकाश पर प्रतिष्ठित है।^३

तीनों वातवलय वायुरूप ही हैं,^४ [किन्तु सामान्यतः वायु अस्थिर स्वभाववाली होती है, जब कि वे वातवलय स्थिर-स्वभाव वाले वायु-मण्डल हैं। इस दृष्टि से गीता का यह कथन जैन मत से साम्य रखता है कि लोक में वायु सर्वत्र व्याप्त है और वायु आकाश पर स्थित है।^५

(५) मध्य लोक का आधार यह पृथ्वी

जम्बूद्वीप से लेकर स्वयम्भूरमण समुद्र तक असंख्य द्वीपों व समुद्रों वाले मध्यलोक का आधार इस रत्नप्रभा का ऊपरी 'चित्रा' पटल है।^६ मेरु पर्वत एक लाख योजन विस्तार वाला है। उसमें एक हजार योजन पृथ्वीतल से नीचे है, तथा निन्यानबे हजार योजन पृथ्वी से ऊपर है। इसी मेरु पर्वत से मध्यलोक की सीमा निर्धारित की जाती है।^७ अर्थात् मध्यलोक पृथ्वीतल से एक हजार योजन नीचे से प्रारम्भ होकर, निन्यानबे हजार योजन ऊंचाई तक स्थिर है।

जम्बूद्वीप आदि द्वीप, लवणोद आदि समुद्र, भरतादि क्षेत्र, मेरु एवं वर्षधर आदि पर्वत, कर्मभूमियां, भोगभूमियां, अन्तर्द्वीप आदि इस पृथ्वी (चित्रा पटल) पर अवस्थित हैं।^८ मनुष्य लोक—इसी (रत्नप्रभा) पृथ्वी का एक बहुत ही छोटा भाग है।

(६) हमारी पृथ्वी का आकार व स्वरूप

रत्नप्रभा—यह नाम अन्वर्थ है। इस पृथ्वी में रत्न, वैडूर्य, लोहित आदि विविध प्रभायुक्त रत्न प्राप्त होते हैं।^९

१. यदिदं सर्वमप्सु ओतं च प्रोतं च...आप ओताश्च प्रोताश्चेति वायौ...वायुरोतश्चेदमन्तरिक्षलोकेषु गार्गीति (बृहदा० उप० ३/६/१)।
२. आकाशाद् वायुः वायोरग्निः, अग्नेरापः अद्भ्यः, पृथिवी (तैत्ति० उप० ११/२/२)।
३. पृथिवी भो गौतम क्व प्रतिष्ठिता। पृथिवी ब्राह्मणा अब्मंडले प्रतिष्ठिता। अब्मंडलो भो गौतम क्व प्रतिष्ठतः। आकाशे प्रतिष्ठितः। आकाशं भो गौतम क्व प्रतिष्ठितम्। अतिसरसि ब्राह्मण...आकाशं ब्राह्मण अप्रतिष्ठितमनालम्बनमिति विस्तरः (मिलिन्दप्रश्न-६८, अभिधर्मकोश-१/५ की व्याख्या में उद्धृत)। द्र० अभिधर्मकोश-३/४५-४७)।
४. त्रिभिर्वायुभिराकीर्णः (ज्ञानार्णव-३३/४)।
५. यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् (गीता-१०/६)।
६. त्रिशष्टि० २/३/५५२-५३,
७. तनुवातान्तपर्यन्तस्तिर्यग्लोको व्यवस्थितः। लक्षितावधिरुध्वाधो मेरुयोजनलक्षया (हरिवंश पु० ५/१)।
८. त०सू० ३/७-१०, लोकप्रकाश-१५/४-५ (रत्नप्रभोपरितलं वर्णयाम्गथ तत्र च। सन्ति तिर्यगसंख्येयमाना द्वीपपयोधयः। साद्धोद्वारा-म्भोधियुगमसमयैः प्रमिताश्च ते)।
९. ति०प० २/२०, सर्वार्थसिद्धि ३/१, राजवार्तिक ३/१/३, अन्वर्थजानि सप्तानां गोत्राण्याहुरमूनि वै। रत्नादीनां प्रभायोगात् प्रथितानि तथा तथा (लोकप्रकाश १२/१६३)।

हमारी यह धरती, नीचे की छः धरतियों के मुकाबले, में आकार (लम्बाई-चौड़ाई) में सबसे छोटी (कम पृथुतर) है।^१ किन्तु मोटाई में यह अधिक है।^२ जहां रत्नप्रभा पृथ्वी की मोटाई एक लाख अस्सी हजार योजन मोटी है।^३ वहां द्वितीय पृथ्वी एक लाख बत्तीस हजार, तृतीय एक लाख अठाईस हजार, चतुर्थ एक लाख बीस हजार, पंचम एक लाख अठारह हजार, षष्ठ एक लाख सोलह हजार, तथा सप्तम एक लाख आठ हजार योजन मोटी है।^४

(क) पृथ्वी में रत्नों की खानें

प्रथम पृथ्वी के खर भाग (१६ हजार योजन) के १६ पटलों (विभागों) में ऊपरी पटल का नाम 'चित्रा' है,^५ जिसकी मोटाई एक हजार योजन है।^६ चित्रा पटल के नीचे पन्द्रह अन्य पटलों के नाम इस प्रकार हैं—(१) वैडूर्य, (२) लोहितांक, (३) असारगल्ल, (४) गोमेदक, (५) प्रवाल, (६) ज्योतिरस, (७) अंजन, (८) अंजनमूल, (९) अंक, (१०) स्फटिक, (११) चन्दन, (१२) वचंगत, (१३) बहुल, (१४) शैल, (१५) पाषाण।^७ इन पटलों में विविध रत्नों की खानें हैं।^८

(ख) पृथ्वी का आकार—गोल व चौरस (सपाट) दर्पण की तरह

इस धरती का आकार जैनागमों में 'झल्लरी' (झालर या चूड़ी) के समान वृत्त माना गया है।^९ कुछ स्थलों में इसे स्थाली के समान आकार वाली भी बताया गया है।^{१०}

पृथ्वी की परिधि वृत्ताकार है, तभी इसे परिवेष्टित करने वाले धनोदधि आदि वातों की बलयाकारता भी संगत होती है।^{११}

१. त्रिशष्टि० २/३/४८८, जीवाजीवाभिगम सू० ३/२/६२, भगवती सू० १३/४/१०,
२. जीवाजीवाभिगम सू० ३/१/८०, भगवती सू० १३/४/१०,
३. लोकप्रकाश १२/१६८, ति० प० २/६, हरिवंश पु० ४/४७-४६, जीवाजीवा० ३/१/६८, जंबूद्वीव प० (दिग०) ११/११४,
४. त्रिशष्टि० २/३/४८७, त० सू० भाष्य-३/१, जीवाजीवा० सू० ३/२/६८, ३/२/६९, प्रज्ञापना सू० २/६७-१०३, दिगम्बर-परम्परा में पृथ्वियों की मोटाई द्वितीय पृथ्वी से लेकर सातवीं पृथ्वी तक इस प्रकार है—शर्करा प्रभा-३२०००, बालुका प्रभा-२८०००, पंकप्रभा-२४०००, धूमप्रभा-२००००, तमः प्रभा-१६०००, महातमः प्रभा—८००० योजन (द्र० तिलोय प० २/२२, १/२८२ पृ० ४६-४६, त्रिलोकसार-१४६)। तिलोयपण्णत्ति में श्वेताम्बर-सम्मत परिमाण को 'पाठान्तर' (मतभेद) के रूप में निर्दिष्ट किया है (ति० प० २/२३)।
५. तिलोयपण्णत्ति २/१०, त्रिलोकसार-१४७. राजवार्तिक ३/१/८, जंबूद्वीव पण्णत्ती (दिग०) ११/११७,
६. ति० प० २/१५, हरिवंश पु० ४/५५.
७. ति० प० २/१५-१८, हरिवंश पुराण (४/५२-५४) में नाम इस प्रकार हैं—चित्रा, वज्रा, वैडूर्य, लोहितांक, मसारकल्प, गोमेद, प्रवाल, ज्योति, रस, अंजन, अंजनमूल, अंग, स्फटिक, चन्द्राभ, वचस्क, बहुशिलामय। त्रिलोकसार (१४७-१४८) तथा जंबूद्वीव पण्णत्ति (दिग०) (११/११७-१२०) में सामान्य अन्तर के साथ नामों का निर्देश है। लोकप्रकाश (१२/१७२-१७५) में नाम इस प्रकार हैं—रत्न, वज्र, वैडूर्य, लोहित, अंक, रिष्ट। जीवाजीवाभिगम सूत्र (३/१/६६) में भी कुछ इसी तरह के नाम दिए गए हैं।
८. ति० प० २/११-१४, लोकप्रकाश १२/१७५
९. मध्ये स्याज्झल्लरीनिभः (ज्ञानार्णव ३३/८)। मध्यतो झल्लरीनिभः (त्रिशष्टि० २/३/४७६)। एतावान्मध्यलोकः स्यादाकृत्या झल्लरीनिभः (लोकप्रकाश १२/४५)। खरकांडे किसंठिए पण्णत्ते। गोयमा। झल्लरीसंठिए पण्णत्ते (जीवाजीवा० सू० ३/१/७४)। भगवती सू० ११/१०/८, हैम-योग शास्त्र-४/१०५, आदि पुराण-४/४१, आराधनासमुच्चय-५८, जंबूद्वीव प० (दिग०) ११/१०६,
१०. (क) स्थालमिव तिर्यग्लोकम् (प्रशमरति, २११)।
(ख) भगवतीसूत्र में एक स्थल पर मध्यलोक को 'वरवज्र' की तरह की बताया गया है—'मज्जे वरवइरविग्गहियंसि'—
५/६/२२५ (१४)।
११. जीवाजीवाभिगम ३/१/७६ (घनोदहिवलए—वट्टे बलयागारसंठाणसंठिए)।

दिगम्बर-परम्परा में इसकी उपमा खड़े हुए मृदंग के ऊर्ध्वभाग (सपाट गोल) से भी दी गई है।^१

जम्बूद्वीप का आकार भी रकाबी (खाने की प्लेट) के समान सपाट गोल है, जिसकी उपमा रथ के चक्र, कमल की कर्णिका, तले हुए पूए आदि से की गई है।^२ जम्बूद्वीपवर्णित (दिगम्बर परम्परा) में इसे सूर्य-मण्डल की तरह वृत्त,^३ तथा सदृश-वृत्त^४ बताया गया है।

उपर्युक्त निरूपण के परिप्रेक्ष्य में, जैन-परम्परा के अनुसार, पृथ्वी नारंगी की तरह गोल न होकर चिपटी (चौड़ी-पतली, सपाट-दर्पण के समान) सिद्ध होती है।

प्राचीन भारतीय वैज्ञानिकों (श्रीपति, श्रीलल्ल, सिद्धान्तशिरोमणिकार भास्कराचार्य आदि) ने भी पृथ्वी को समतल ही माना है। वायु पुराण, पद्मपुराण, विष्णुधर्मोत्तरपुराण, भागवत आदि पुराणों में भी पृथ्वी को समतलाकार या पुष्करपत्रसमाकार बताया गया है।^५

(७) जैनदर्शन और विज्ञान:

आधुनिक विज्ञान इस पृथ्वी को नारंगी की तरह गोल मानता है। जैन-सम्मत पृथ्वी-आकार तथा विज्ञान-स्वीकृत पृथ्वी आकार के मध्य इस अन्तर को समाप्त करने के लिए जैन विद्वानों द्वारा विविध प्रयत्न किये जा रहे हैं। यह प्रयत्न द्विमुखी है। एक पक्ष के प्रवर्तकों का यह प्रयत्न रहा है कि जैनागमों की ही ऐसी व्याख्या की जाए जिससे जैन मत या तो आधुनिक विज्ञान के कुछ निकट आ जाए, या समर्थित हो जाए। दूसरे पक्ष के समर्थकों का यह प्रयत्न रहा है कि विज्ञान के मतों को अनेक युक्तियों से सदोष या निर्बल सिद्ध करते हुए जैन-सम्मत सिद्धान्तों की निर्दोषता या प्रबलता प्रकट हो। इन दोनों पक्षों को दृष्टि में रख कर, विज्ञान व जैन मत के बीच विरोध का समाधान यहां प्रस्तुत किया जा रहा है।

(क) भल्लरी व स्थाली शब्दों के अर्थ:

(१) प्रथम पक्ष की ओर से यह समाधान प्रस्तुत किया जाता है कि जैन शास्त्रों में पृथ्वी की उपमा 'भल्लरी' या 'स्थाली' से दी जाती है। आज 'स्थाली' शब्द से भोजन करने की थाली, तथा 'झल्लरी' शब्द से झालर का बोध मानकर जैन परम्परा में पृथ्वी को वृत्त व चिपटी माना गया है। किन्तु झल्लरी का एक अर्थ 'झांझ' वाद्य भी होता है, और 'स्थाली' का अर्थ खाने पकाने की हंडिया (बर्तन) भी। ये अर्थ आज व्यवहार में नहीं हैं। यदि झांझ व हंडिया अर्थ माना जाए तो पृथ्वी का गोल होना सिद्ध हो जाता है और आधुनिक विज्ञान की धारणा से भी संगति बैठ जाती है।^६

यहां यह उल्लेखनीय है कि 'भल्लरी' पद का 'झांझ' (वाद्य) अर्थ में प्रयोग जैन आगम 'स्थानांग' में उपलब्ध भी होता है।^७ विद्वानों के समक्ष यह समाधान विचारणार्थ प्रस्तुत है।

१. मज्झिमलोयायारो उब्भय-मुरअद्धसारिच्छो (तिलोयवणत्ति, १/१३७)। श्वेता० परम्परा में ऊर्ध्वलोक को ऊर्ध्व मृदंगाकार माना है (भगवती सू० ११/१०/६)। [ति० प० की ऊर्ध्व मृदंगाकार मान्यता में गणितीय दृष्टि से कुछ दोष था (ऊर्ध्वलोक का घनफल १४७ घन रज्जू होना चाहिए, जो इस मान्यता में कठिन था), इसलिए आ० वीरसेन-प्रतिपादित आयत चतुरस्राकारलोक की मान्यता दिग० परम्परा में अधिक मान्य हुई।]
२. जंबूद्वीवे...वट्टे तेल्लापूयसंठाणसंठिए वट्टे पुरहचक्कवालसंठाणसंठिए वट्टे क्खरकण्णियासंठाणसंठिए (जंबूद्वीववणत्ति-श्वेताम्बर, १/२-३)। जीवाजीवाभिगम सू० ३/२/८४, ३/१२४, स्थानांग-१-२४८ औपपातिक सू० ४१,
३. जंबूद्वीववणत्ति (दिग०) १/२०,
४. जंबूद्वीव प० (दिग०) ४/११
५. द्रष्टव्य-विज्ञानवाद विमर्श-(प्रका० भू-भ्रमण शोध संस्थान, महेसाणा-गुज०), पृ० ७५-८१
६. युवाचार्य महाप्रज्ञ मुनि नथमल जी का मत, (द्र० तुलसीप्रज्ञा (शोध पत्रिका), लाडनू, अप्रैल-जून, १९७५, पृ० १०६)।
७. मज्झिमं पुण झल्लरी (=झांझ से मध्यम स्वर की उत्पत्ति होती है)—स्थानांग-७/४२

(ख) प्लैट-अर्थ सोसाइटी व अन्य संस्थाएं :

(२) दूसरे पक्ष की ओर से समाधान यह प्रस्तुत किया जाता है कि विज्ञान की मान्यता अंतिम रूप तो मानी नहीं जा सकती। विज्ञान तो एक अनवरत अनुसन्धान-प्रक्रिया का नाम है।^१ विज्ञान के अनेक प्राचीन सिद्धान्त आज स्वयं विज्ञान द्वारा खंडित हो गए हैं। पृथ्वी के नारंगी की तरह गोल होने की मान्यता पर भी कुछ आधुनिक वैज्ञानिकों का वैमत्य है।^२ अनेक वैज्ञानिक प्रयोगों से पृथ्वी के नारंगी की तरह गोल होने की मान्यता पर प्रश्नचिह्न लगा है। लन्दन में 'प्लैट अर्थ सोसाइटी' नामक संस्था कार्य कर रही है जो पृथ्वी को चिपटी सिद्ध कर रही है। भारत में भी पू० १०५ आर्थिका ज्ञानमती माता जी के निर्देशन में दिग० जैन त्रिलोक शोध संस्थान (हस्तिनापुर, मेरठ-उ०प्र०), तथा पू०पं० प्रवर मुनि श्री अभयसागर जी गणी म० की प्रेरणा से कार्यरत 'भू-भ्रमण शोध संस्थान' (The Earth Rotation Research Institute) (मेहसाना, उ० गुजरात) आदि संस्थाएं इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय हैं।

पूज्य पू० प्रवर मुनि श्री अभयसागर जी गणि के प्रयत्नों से विविध साहित्य का निर्माण हुआ है जिसमें पृथ्वी के विज्ञान-सम्मत आकार के विरुद्ध, वैज्ञानिक रीति से ही प्रश्न व आपत्तियां उठाई गई हैं, और जैनसम्मत सिद्धान्त के प्रति सम्भावित दोषों का निराकरण भी किया गया है।^३

(द) पृथ्वी की स्थिरता

इसी तरह, जैनागम-परम्परा में पृथ्वी को स्थिर माना गया है, न कि भ्रमण-शील।^४ वेद आदि प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में भी पृथ्वी को स्थिर कहा गया है।^५ भारत के प्रसिद्ध प्राचीन आचार्यों में श्री वराहमिहिर (ई० ५०५) श्रीपति (ई० ६६६) आदि के नाम इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय हैं जिन्होंने पृथ्वी की स्थिरता का सयुक्तिक प्रतिपादन किया है।^६ प्राचीन जैनाचार्य श्री विद्यानन्दि स्वामी (ई० ८-९ शती) ने 'तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक' में भू-भ्रमण के सिद्धान्त को सयुक्तिक खण्डित किया है।^७ आज भी अनेक मनीषी इस सम्बन्ध में अवेपण कर रहे हैं।^८

आधुनिक विज्ञान इस पृथ्वी को भ्रमणशील मानता है। विज्ञान और जैन मत के बीच इस खाई को वैज्ञानिक सापेक्षवाद तथा जैन अनेकान्तवाद या स्याद्वाद के माध्यम से पाटा जा सकता है।

1. "Science is a series of approximations to the truth ; at no stage do we claim to have reached finality ; any theory is liable to revision in the light of new facts." (A.W. Barton, quoted in 'Cosmology : Old and New', Prologue, p.III).
"Scientific theories arise, develop and perish. They have their span of life, with its successes and triumphs, only to give way later to new ideas and a new outlook." (Leopold Infeld in "The world in Modern Science", p. 231).
2. See : Research-article 'A Criticism upon Modern Views of Our Earth' by Sri Gyan Chand Jain (appeared in Ft. Sri Kailash Chandra Shastri Felicitation Volume, pp. 446-450),
३. द्र० (१) पृथ्वी का आकार-निर्णय -- एक समस्या, (२) क्या पृथ्वी का आकार गोल है? (३) भूगोल विज्ञान-समीक्षा। [प्रकाशक-जंबूद्वीप निर्माण योजना, कपडवेंज, गुज०] (४) विज्ञानवादविमर्शः (प्रका० भू-भ्रमण शोध संस्थान, मेहसाना, गुज०)
४. (क) सूर्य की भ्रमणशीलता का उल्लेख जैन शास्त्रों में प्राप्त है—सूर्यप्रज्ञप्ति १।६-१०, भगवती सूत्र-वृत्ति—५।१।१-२, (ख) किन्तु धवला ग्रन्थ (दिग०) में आचार्य वीरसेन ने पृथ्वी की भ्रमणशीलता का भी संकेत किया है, जो वस्तुतः मननीय है :—
द्रव्येन्द्रियप्रमितजीवप्रदेशानां न भ्रमणमिति किन्नेष्यते, इति चेन्न । तद्-भ्रमणमन्तरेण आशुभ्रमज्जीवानां भ्रमद्भूम्यादि-दर्शनानुपपत्तेः (धवला, १।१, १, ३३, उद्धृत-जैन सिद्धान्त कोश, २।३३६-४० पृ०) ।
५. ध्रुवा पृथिवी (पातंजल योग सू० २।५ पर व्यास-भाष्य) । ध्रुवासि धरणी (यजुर्वेद-२।५) । पृथिवी वितस्थे (ऋ० १।७२।६) ।
६. द्र० विज्ञानवाद-विमर्श (भू-भ्रमण शोध संस्थान, मेहसाना-गुज०), पृ० ८१-८३, जैन दर्शन और आधुनिक विज्ञान (ले० मुनि नगराज), पृ० १०६,
७. द्र० तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, खण्ड-५, (त० सू० ३/१३ पर श्लोक स० १२-१४, पृ० ५५६-८५)
८. द्र० 'क्या पृथिवी स्थिर है' (ले० आ० जिनमणिसागरसूरि),

आ० विद्यानन्दि ने कहा है—“स्वाद्धादी जैनों के यहां ज्योतिषविज्ञानोक्त सभी बातें संगत ठहराई जा सकती हैं।”
 वैज्ञानिक परम्परा में भी महान् वैज्ञानिक आइंस्टीन ने सापेक्षवाद का सहारा लेते हुए कहा था —“प्रकृति ऐसी है कि किसी भी ग्रह-पिण्ड की वास्तविक गति किसी भी प्रयोग द्वारा निश्चित रूप से नहीं बताई जा सकती।”^३

डेन्टन की ‘रिलेटिविटी’ पुस्तक में उक्त समन्वय को अधिक अच्छे ढंग से निम्न प्रकार से प्रतिपादित किया गया है—

“सूर्य-मण्डल के भिन्न-भिन्न ग्रहों में जो आपेक्षिक गति है, उसका समाधान पुराने ‘अचल पृथ्वी’ के आधार पर भी किया जा सकता है, और कोपरनिकस’ (वैज्ञानिक) के उस नए सिद्धान्त के आधार पर भी किया जा सकता है जिसमें पृथ्वी को चलती हुई माना जाता है।”^४

(इ) पृथ्वी पर मध्यलोक का संक्षिप्त विवरण

इस पृथ्वी के मध्य भाग में ‘जम्बूद्वीप’ स्थित है, जिसका विस्तार एक लाख योजन (लम्बाई-चौड़ाई) है।^५ इसे सभी ओर से (वलयाकार) घेरे हुए दो लाख योजन विस्तार (लम्बाई) वाला तथा १० हजार योजन चौड़ाई वाला लवणसमुद्र है।^६ इसी प्रकार एक दूसरे को घेरते हुए, क्रमशः धातकीखण्ड द्वीप, कालोद समुद्र, पुष्कर द्वीप, पुष्करोद समुद्र, वरुणवर द्वीप, वरुणवर समुद्र, क्षीरवर द्वीप, क्षीरोद समुद्र, घृतवर द्वीप, घृतवर समुद्र, क्षोदवर द्वीप, क्षोदवर समुद्र, नन्दीश्वर द्वीप, नन्दीश्वर वर समुद्र आदि असंख्यात द्वीप-समुद्र हैं। सब के अन्त में असंख्यात योजन विस्तृत स्वयम्भूरमण द्वीप है।^७

पुष्कर द्वीप को मध्य में से दो भाग करता हुआ मानुषोत्तर पर्वत है,^८ जिसके आगे मनुष्यों का सामान्यतः जाना-आना सम्भव नहीं।^९ इसलिए मानुषोत्तर पर्वत के पूर्व तक, अढ़ाई द्वीप में मनुष्य क्षेत्र (मनुष्य-क्षेत्र) की मर्यादा मानी गई है। मानुषोत्तर पर्वत १७२१ योजन ऊंचा, तथा मूल में १०२२ योजन चौड़ा है।^{१०}

१. ज्योतिःशास्त्रमतो युक्तं नैतत्स्याद्वादविद्विषाम् । संवादकमनेकान्ते सति तस्य प्रतिष्ठिते (तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक—४।१३ त० सू० पर, श्लोक सं० १७, खंड-५, पृ० ५८४) ॥
२. Rest and motion are merely relative.
Nature is such that it is impossible to determine absolute motion by any experiment whatever. (Mysterious Universe, p. 78).
३. The relative motion of the members of the solar system may be explained on the older geocentric mode and on the other introduced by Copernicus. Both are legitimate and give a correct description of the motion but the Copernicus is for the simpler. (Relativity and Commonsense, by Denton)
४. ति० प० ४।११, लोकप्रकाश-१६।२२, हरिवंश पु० ५।३, त० सू० ६।८ पर श्रुतसागरीयवृत्ति, स्थानांग-१।२४८, जम्बूद्वीप पण्णत्ति (श्वेता०) ७।१७६, समवायांग-१।४ जीवाजीवाभिगम-३।१२४,
५. ति० प० ४।२३६८, ४।२४०१, जीवाजीवा० ३।२।१७२,
६. त्रिलोकसार-३०४-३०८, त० सू० ३।८ पर श्रुतसागरीयवृत्ति, लोकप्रकाश-१५।२३-२७, जीवाजीवा० ३।२।१८५, हरिवंश-पु० ५।६२६,
७. हरिवंश पु० ५।५७७, ति० प० ४।२७४८, बृहत्क्षेत्रसमास-५८२, ५८७,
८. ति० प० ४।२६२३, सर्वार्थसिद्धि-३।३५, त० सू० ३।१४ (श्वेता० सं०), हरिवंश पु० ५।६११-१२, श्वेताम्बर मत में वैक्रियलब्धि-सम्पन्न तथा चारण मुनि मानुषोत्तर पर्वत के पार भी जा सकते हैं (मानुसुत्तरपर्वव्यं मणुया ण कयाइ वीइवइसु वा वीइयवंति वा वीइवइस्संति वा णणत्थ चारणेहि वा देवकम्मणा वा वि—जीवाजीवाभि० सू० ३।२।१७८,) किन्तु हरिवंश पु० (दिग०)-५।६१२ में समुद्रघात व उपपाद में ही इस पर्वत के आगे गमन बताया है।
९. हरिवंश पु० ५।५६१-६३, जीवाजीवा० ३।२।१७८, स्थानांग-१०।४०, बृहत्क्षेत्रसमास-५८३-८४,

मध्य लोक के ठीक मध्य में एक लाख योजन विस्तृत, तथा सूर्य-विम्बवत् वर्तुलाकार जम्बूद्वीप है !^१ इस द्वीप को विभाजित करने वाले, पूर्व से पश्चिम तक फैले हुए (लम्बे) छः वर्षधर पर्वत हैं:^२—(१) हिमवान् (२) महाहिमवान् (३) निषध, (४) नील, (५) रुक्मी, (६) शिखरी। इस प्रकार, जम्बूद्वीप के सात विभाग हो जाते हैं जिनकी वर्ष या 'क्षेत्र' संज्ञा है। ये क्षेत्र हैं—(१) भरतक्षेत्र (२) हैमवत, (३) हरि (४) विदेह, (५) रम्यक, (६) हैरण्यवत, (७) ऐरावत।^३

मेरु पर्वत विदेह क्षेत्र के मध्य पड़ता है।^४ मेरु के पूर्व की ओर का विदेह 'पूर्व विदेह', पश्चिम की ओर का 'पश्चिम विदेह', उत्तर की ओर का 'उत्तर कुह', तथा दक्षिण की ओर का विदेह 'देवकुह' कहलाता है।^५ भरत, हैमवत तथा हरि क्षेत्र मेरु के दक्षिण की ओर स्थित हैं, तथा रम्यक, हैरण्यवत व ऐरावत क्षेत्र उत्तर की ओर स्थित हैं।

जम्बूद्वीप में ६ महाद्रह हैं,^६ जिनमें पञ्चद्रह से गंगा नदी व सिन्धु नदी का उद्गम होता है।^७ गंगा नदी दक्षिणार्ध भरतक्षेत्र के मध्य में से होकर प्रवाहित होती हुई, पूर्वाभिमुख हो, चौदह हजार नदियों सहित पूर्वी लवण समुद्र में जा गिरती है।^८ इसी प्रकार, सिन्धु नदी वैताढ्य पर्वत को भेदती हुई, पश्चिमाभिमुख होती हुई, चौदह हजार नदियों सहित, पश्चिमी लवण समुद्र में जा गिरती है।^९

इसी प्रकार, अन्य नदियों (रोहितांसा, रोहिता, हरिकान्ता आदि) का भी उद्गम आगमों में प्रतिपादित किया गया है।^{१०} गंगा आदि नदियों में महर्द्धिक देवताओं का वास है, तथा भरत-ऐरावतादि में पुण्यशाली तीर्थकर-चक्रवर्ती एवं अन्य उत्तम पुरुष होते हैं, इसलिए जम्बूद्वीप को लवण समुद्र कभी जलमग्न नहीं करता।^{११}

१. स्थानांग-१।२४८, त्रिलोकसार-३०८, त०सू० ३।१६ पर श्रुतसागरीय वृत्ति,
२. त० सू० ३।११, ति० प० ४।६४, लोकप्रकाश-१५।२६१-२६३, स्थानांग-६।८५, ७।५१, जंबूद्वीप (श्वेता०) ६।१२५, बृहत्क्षेत्रसमास २२, २४,
३. हरिवंश पु० ५।१३-१४, त० सू० ३।१०, लोकप्रकाश, १५।२५८-६० ति० प० ४।६१, स्थानांग-६।८४, ७।५०, जंबूद्वीव (श्वेता०) ६।१२५, बृहत्क्षेत्रसमास-२२-२३,
४. त० सू० ३।१६, लोकप्रकाश-१८।३, हरिवंश पु० ५।३, २८३, बृहत्क्षेत्रसमास-२५७,
५. लोकप्रकाश-१७।१४-१६, १८।२-३, त० सू० ३।१० पर श्रुतसागरीय वृत्ति, स्थानांग-४।२।३०८, बृहत्क्षेत्रसमास-२५७,
६. त० सू० ३।१४ (दिग० संस्करण), स्थानांग-६।३।८८, जंबूद्वीव प० (श्वेता०) ४।७३, बृहत्क्षेत्रसमास-१६८, १६६-१६७,
७. ति० प० ४।१६५-१६६, २५२, त० सू० ३।२० (दिग० संस्करण), हरिवंश पु० ५।१३२, बृहत्क्षेत्रसमास-२१४,
- ८। ति० प० ४।१६६, २१०-२४०, त० सू० ३।२१ (दिग० सं०), लोकप्रकाश-१६।२३६-४६, जंबूद्वीव प० (श्वेता०) ४।७४, हरिवंश पु० ५।१३६-१५०, २७५, २७८, स्थानांग-७।५२, बृहत्क्षेत्रसमास-२१५-२२१॥
९. त० सू० ३।२२ (दिग० सं०), लोकप्रकाश-१६।२६०-२६३, जंबूद्वीव प० (श्वेता०) ४।७४, ति० प० ४।२३७३, ४।२५२-६४, हरिवंश पु० ५।१५१, स्थानांग-७।५३, बृहत्क्षेत्रसमास-२३३,
१०. लोकप्रकाश-१६।२६७-४५५, १६।१५३-१८३, हरिवंश पु० ५।१३३-१३५, तिलोय प० ४।२३८०, २८१०-११, स्थानांग-७।५२-५३, राजवातिक-३।३२, जंबूद्वीव (श्वेता०) ४।७७, ६।१२५, बृहत्क्षेत्रसमास-१७१-१७२, २३३,
११. जीवाजीवा० ३/१७३,

हरिवंश-पुराण के अनुसार ४२ हजार नागकुमार इस लवणसमुद्र की आभ्यन्तर वेला को तथा ७२ हजार नागकुमार बाह्य वेला का धारण (नियमित) कर रहे हैं (हरिवंश पु० ५/४६६)। जीवाजीवाभिगम सूत्र (सू० ३/१५८) तथा बृहत्क्षेत्र समास, (४१७-१८) में भी यही भाव व्यक्त किया गया है।

जम्बूद्वीप के भरतादि क्षेत्रों के आर्यखण्डों में ३४ कर्मभूमियां हैं। भरत व ऐरावत में १-१, तथा विदेह क्षेत्र में ३२, इस प्रकार कुल कर्मभूमियों की संख्या चौतीस हो जाती है।^१ इसी प्रकार कुल १७० म्लेच्छखण्ड, तथा ६ भोगभूमियां हैं।^२ (हैमवत, हैरण्यवत, हरि, रम्यक, देवकुरु (विदेह क्षेत्र), उत्तरकुरु (विदेह क्षेत्र)—इन ६ क्षेत्रों में १-१ भोगभूमि है।^३)

विदेह क्षेत्र में कभी धर्मोच्छेद नहीं होता, और वहां सदा तीर्थंकर विद्यमान रहते हैं।^४ वहां हमेशा ही चतुर्थकाल रहता है,^५ अर्थात् वहाँ मनुष्यों की उत्कृष्ट आयु एक कोटि 'पूर्व' तक, तथा शरीर की ऊंचाई ५०० धनुष प्रमाण होती है ;

भरत व ऐरावत में (५-५ म्लेच्छ खण्डों में कुछ अपवादों को छोड़कर) उत्सर्पिणी व अवसर्पिणी का षट्कालचक्र निरन्तर प्रवर्तित होता रहता है। अवसर्पिणी में मनुष्यादि की आयु, शरीर की ऊंचाई, विभूति, सुख आदि में ह्रास गतिशील रहता है, किन्तु उत्सर्पिणी में इनमें क्रमिक उन्नति प्रवर्तित रहती है।^६

भरत क्षेत्र का विस्तार $५२६ \frac{६}{१६}$ योजन है।^७ भरत क्षेत्र के भी वैताढ्य (विजयाढ्य) पर्वत^८ के कारण दो भाग हो जाते हैं—(१) उत्तरार्ध भरत, तथा (२) दक्षिणार्ध भरत।^९ इन दो में से प्रत्येक के भी, गंगा व सिन्धु नदी के कारण ३-३ खण्ड

१. (क) ति० प० ४/२३६७, स्थानांग-३/३/३६०, त० सू० ३/३७ (दिग० सं०) तथा इसकी टीकाएं,
- (ख) विदेहों के ३२ भेद इस प्रकार हैं—उत्तर कुरु व पूर्व विदेह को सीता नदी, तथा देवकुरु व अपर विदेह को सीतोदा नदी दो-दो भागों में विभाजित करती हैं, जिससे विदेह के ८ भाग हो जाते हैं। ३ अन्तनदियों तथा चार वक्षस्कार पर्वतों से विभाजित होकर इन में से प्रत्येक के ८-८ भाग हो जाते हैं (द्र० लोक प्रकाश-१७/१८-२०, हरिवंश पु० ५/२३८-२५२, बृहत्क्षेत्र समास-३२०, ३६१-३६३)।
- (ग) ५ भरत, ५ ऐरावत, ५ विदेह—इस प्रकार (प्रत्येक में तीन) पन्द्रह कर्मभूमियों का भी निर्देश है (जीवाजीवा० सू० २/४५, ३/१/११३,)
- (घ) समस्त मनुष्य-क्षेत्र (अढ़ाई द्वीप में) ५ भरत, ५ ऐरावत, तथा १६० विदेह—इनमें से प्रत्येक में १-१ कर्मभूमि होने से कुल कर्मभूमियां १७० हो जाती हैं।
२. ति० प० २३६७, त० सू० ३/३७ (दिग० सं०) तथा इस पर टीकाएं।
समस्त भोगभूमियां ३० (जंबूद्वीप में ६, धातकी खण्ड में १२, पूषकरार्ध में १२), तथा कुभोगभूमियां-६६ (लवणसमुद्र के अन्तर्द्वीपों में) मानी गई हैं (द्र० ति० प० ४/२६५४)।
अन्तर्द्वीपों की संख्या दिगम्बर-परम्परा में ४८ (द्रष्टव्य-तिलोय प० ४/२७४८-८०, त्रिलोकसार-६१३, हरिवंश पु० ५/४८१, राजवातिक-३/३७ आदि), तथा श्वेताम्बर-परम्परा में ५६ मानी गई है (द्र० स्थानांग-४/२/३२१-२७, जीवाजीवा० सू० ३/१०८-११३, लोकप्रकाश-१६/३११-१६, भगवती सूत्र ६/३/२-३)।
३. ति० प० ४/२३६७, त० सू० ३/३७ (दिग० सं०) तथा इस पर टीकाएं, स्थानांग-६/३/८३
४. राजवातिक-३/१०, त्रिलोकसार-६८०, लोकप्रकाश-१७/३६, ३६, ५५,
५. त० सू० ३/१० तथा ३/३१ (दिग० सं०) पर श्रुतसागरीय टीका व राजवातिक, त्रिलोक-सार-८८२, लोकप्रकाश-१७/०३८, ४२१. बृहत्क्षेत्र समास-३६४.
६. ति० प०/३१३-१४, ४/१५५७, जंबूद्वीप प० (श्वेता०) २/१८, त्रिलोकसार-७७६, स्थानांग-६/२३-२७, त० सू० ३/२७, (दिग० संस्क०) तथा इस पर टीकाएं, हरिवंश पु० ७/५७, ६३, बृहत्क्षेत्र समास-१६५,
७. ति० प० ४/१००, लोकप्रकाश-१६/३०, हरिवंश पु० ५/१७-१८, जंबूद्वीप प० (श्वेता०) १/१०, त्रिलोकसार-७६७,
८. वैताढ्य (विजयार्ध) पर्वत की ऊंचाई २५ योजन, तथा इसकी जीवा (उत्तर-प्रत्यंचा) का प्रमाण $१०७२० \frac{११}{१६}$ योजन है (द्र० लोकप्रकाश-१६/४८-५२. जंबूद्वीप प० (दिग०) २/३५, त० सू० ३/१० पर श्रुतसा० टीका, हरिवंश पु० ५/२०-२१, बृहत्क्षेत्र स० ४४, १७८, ५६२,
९. जंबूद्वीप प० (श्वेता०) १/१५, लोकप्रकाश-१६/३५, ४७, बृहत्क्षेत्र समास-२५,

हो जाते हैं, इस प्रकार भरत क्षेत्र के ६ खण्ड हो जाते हैं।^१ दक्षिणार्ध भरत खण्ड के तीन खण्डों में से मध्य खण्ड का नाम 'आर्यखण्ड' है,^२ जहां तीर्थंकरादि जन्म लेते हैं, बाकी ५ खण्ड म्लेच्छ खण्ड है।^३ दक्षिणार्ध भरत खण्ड की चौड़ाई २३८ $\frac{३}{१६}$ योजन,^४ तथा पूर्व पश्चिम की ओर फैली जीवा की लम्बाई ६७४ $\frac{१२}{९६}$ योजन है।^५

रत्नप्रभा पृथ्वी के रत्नमय काण्ड के सहस्र योजन के पृथ्वीखण्ड में से एक सौ योजन ऊपर, तथा एक सौ योजन नीचे के भाग को छोड़कर, मध्य के ८०० योजन पृथ्वी पिण्ड में वाणव्यन्तर देव आदि रहते हैं।^६ वाणव्यन्तर देव इस पृथ्वी पर क्रीड़ा विनोद हेतु विचरते रहते हैं।^७ इसी प्रकार, पहली पृथ्वी के प्रथम व दूसरे भाग में भवनवासी देवों तथा पिशाच आदि देवों की स्थिति भी मानी गई है, जिसका विस्तृत निरूपण आगमों में द्रष्टव्य है।^८

रत्नप्रभा पृथिवी से ७६० योजन की ऊंचाई पर ज्योतिष्क (तारा आदि ज्योतिष-चक्र) देवों की स्थिति है।^९

जम्बूद्वीप में दो चन्द्र तथा दो सूर्य तथा समस्त मनुष्य लोक में १३२-१३२ चन्द्र-सूर्य माने गए हैं।^{१०}

(क) विज्ञान प्रेमियों की ओर से कुछ आपत्तियां

आजकल विज्ञान की चकाचौंध का युग है। विज्ञान ने हमें अनेक भौतिक सुविधाएँ प्रदान कीं, और हम उसके दास हो गए। यही कारण है कि आज की नई पीढ़ी विज्ञान जगत् में प्रचलित मान्यताओं को तुरन्त स्वीकार कर लेती है, किन्तु आगमों में निरूपित सिद्धान्तों पर श्रद्धा तभी करती है जब वह विज्ञान-समर्थित हो। आजकल विज्ञान-प्रेमी कुछ तार्किक व्यक्ति जैनागम-निरूपित पृथ्वी के स्वरूप पर अनेक आपत्तियां प्रकट करते हैं, जिनका समाधान भी यहां करना अप्रासंगिक न होगा। वे आपत्तियां इस प्रकार हैं—

(१) जैन आगमों के अनुसार, मध्यलोक की रत्नप्रभा पृथिवी का विस्तार असंख्य सहस्रयोजन का बताया गया है। जैन

१. ति० प० ४/२६६-६७, लोकप्रकाश-१६/३६१, त० सू० ३/१० पर श्रुतसा० टीका,
 २. ति० प० ४/२६७,
 ३. लोक प्रकाश-१६/४५, १६/२००-२०१,
 ४. लोक प्रकाश—१६/३७, जंबूद्वीप प० (श्वेता०) १/११, बृहत्क्षेत्रसमास-२६
 ५. जम्बू० प. (श्वेताः) १/११, लोक प्रकाश—१६/३८, जम्बू० प० (दिग.) २/३१, त्रिलोकसार-७६६, बृहत्क्षेत्रसमास-३७,
 ६. लोक प्रकाश-१२/१६३-१६४, पणवणा सूत्र-२/१०६, जीवाजीवा. सू. ३/११६
 ७. 'लोक प्रकाश—१२/२०१-२११,
 ८. लोक प्रकाश—१३/१-२, हरिवंश पु. ४/५६-६१,
 ९. (क) पणवणा सू. २/१०६-११६, जीवाजीवा. सू. ३/११६-१२१, (इमीसे रयणपभाए पुढवीए असीउत्तरजोयणसयसहस्सबा-हत्लाए उर्वरि एगं जोयणसहस्सं ओगाहिता हेट्टा चेगं जोयणसहस्सं वज्जिता मज्जे अठहुत्तरे जोयणसयसहस्से) ।
- (ख) दिगम्बर-परम्परा में कुछ भिन्न मत है। इसके अनुसार रत्नप्रभा के तीन भागों में से प्रथम भाग के एक-एक हजार योजन क्षेत्र को छोड़कर, मध्यवर्ती १४ हजार योजन क्षेत्र में किन्नरादि सात व्यन्तर देवों के तथा नागकुमारादि नौ भवनवासियों के आवास हैं। रत्नप्रभा के दूसरे भाग में असुर कुमार भवनपति और राक्षस व्यन्तरपति के आवास हैं। (द्र० ति० प० ३/७, राजवार्तिक-३/१/८ (तत्र खरपृथिवीभागस्योपर्यपर्यधश्चैकैकं योजनसहस्रं परित्यज्य मध्यमभागेषु चतुर्दशसु योजन-सहस्रेषु)]
१०. हरिवंश पु. ६/१, जम्बू० प० (दिग.) १२/६३, त. सू. ४/१२ पर श्रुतसागरीय टीका, जीवाजीवा. सू. ३/१६५, जम्बू० प० (श्वेता०) ७/१६५,
 ११. जीवाजीवा. सू. ३/१५३ १७७ (मंदरोदेश), जंबू० प० (श्वेता.) ७/१२६, १६/६६-१०१, जंबूद्वीप प. (दिग.) १२/१४, त्रिलोकसार-३४६, हरिवंश पु. ६/२६, चन्द्रप्रज्ञप्ति (श्वेता.) १/३/१२, भगवती सू. ६/१/२-५, समवायांग—६६/३३२, बृहत् क्षेत्रसमास—३६५, ६४६.

आगमों में समस्त मनुष्य-लोक की लम्बाई-चौड़ाई ४५ लाख योजन, तथा परिधि १४२३०२४६ योजन कही गई है।^१ जम्बूद्वीप की भी परिधि का प्रमाण तीन लाख सोलह हजार दो सौ सत्ताईस योजन से कुछ अधिक बताया गया है। योजन का परिमाण भी आधुनिक माप का ४००० मील होता है।^२

किन्तु विज्ञानवेत्ताओं के अनुसार, वर्तमान विज्ञात पृथ्वी का व्यास ८००० मील है, तथा परिधि २५ सौ मील है। वर्तमान ज्ञात पृथ्वी को जम्बूद्वीप भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि तब यह प्रश्न उठेगा कि इस जम्बूद्वीप में वर्णित भोगभूमियां कौन-सी हैं? विदेह क्षेत्र कौन सा है जहां सतत, वर्तमान में भी, तीर्थंकर विचरण करते हैं? भोगभूमियों में मनुष्यों का शरीर ५०० धनुष प्रमाण तथा आयु भी लाखों करोड़ों वर्ष बताई गई है, ऐसा स्थान वर्तमान ज्ञात पृथ्वी में कहां है?

इसी प्रकार, वर्तमान ज्ञात पृथ्वी को भारत क्षेत्र भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि तब यह प्रश्न उठेगा कि उसमें वैताड्य पर्वत (विजयार्ध) कौन सा है? इस पर्वत की ऊंचाई २५ योजन बताई गई है, तथा उसकी लम्बाई (पूर्व से पश्चिम तक) दस हजार सात सौ बीस योजन के करीब है। आखिर यह पर्वत कहां है।

(२) मनुष्य लोक में १३२-१३२ सूर्य-चन्द्र माने गए हैं। जम्बूद्वीप में भी दो सूर्य व दो चन्द्र बताए गए हैं। समस्त पृथ्वी पर तो चन्द्र-सूर्यादि की संख्या इससे भी अधिक, अनगिनत, बताई गई है। किन्तु, प्रत्यक्ष में तो सारी पृथ्वी पर एक ही सूर्य व एक ही चन्द्र दृष्टिगोचर होता है।

आगमों में बताया गया है कि जब विदेह क्षेत्र में रात (जम्बूद्वीप स्थित मेरु पर्वत के पूर्व-पश्चिम में स्थित होने से) होता है, तो भरतादि क्षेत्र में (मेरु पर्वत के उत्तर-दक्षिण में होने के कारण) दिन होता है।^३ आजकल अमेरिका व भारत के बीच प्रायः ऐसा ही अंतर है। तो क्या अमेरिका को विदेह क्षेत्र मान लिया जाय? और ऐसा मान लेने पर वहां वर्तमान में तीर्थंकरों का सद्भाव मानना पड़ेगा? विदेह क्षेत्र का विस्तार ३३६८४ योजन (लगभग) बताया गया है, क्या अमेरिका इतना बड़ा है? विदेह क्षेत्र में मेरु पर्वत की ऊंचाई (पृथ्वी पर) एक लाख योजन बताई गई है, ऐसा कौन सा पर्वत आज के अमेरिका में है।

(४) जैन आगमानुसार, लवण-समुद्र इस जम्बूद्वीप को बाहर से घेरे हुए है। किन्तु वर्तमान पृथ्वी पर तो पांच महासागर व अनेक नदियां प्राप्त हैं। जैन आगमानुसार उनकी संगति कैसे बैठाई जा सकती है?

(५) यदि वर्तमान पृथ्वी को जम्बूद्वीप का ही एक भाग माना जाय, तो भी कई आपत्तियां हैं। प्रथम तो समस्त पृथ्वी पर एक साथ दिन या रात होनी चाहिए। भारत में दिन हो और अमेरिका में रात—ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि समस्त जम्बूद्वीप में एक साथ दिन या रात होते हैं।

(६) उत्तरी व दक्षिणी ध्रुव में अत्यधिक लम्बे दिन व रात होते हैं। इसकी संगति आगमानुसार कैसे सम्भव है।

(७) जैन आगमों में पृथ्वी को चपटी व समतल माना गया है,^४ फिर वैज्ञानिकों को यह गोल नारंगी की तरह क्यों दिखाई देती है? दूसरी बात, सपाट भूमि में यह कैसे सम्भव है कि इस भूमण्डल के किसी भाग में कहीं सूर्य देर से उदित हो या अस्त हो और कहीं शीघ्र, कहीं धूप हो कहीं छाया।

उपर्युक्त शंकाओं का समाधान आगम-श्रद्धाप्रधान दृष्टि से निम्नलिखित रूप से मननीय है :—

हम आज जिस भूमण्डल पर हैं, वह दक्षिणार्ध भारत के छः खण्डों में से मध्यखण्ड का भी एक अंश है। मध्य खण्ड से बीचों बीच स्थित 'अयोध्या' नगरी से दक्षिण पश्चिम कोण की ओर, कई लाख मील दूर हट कर, हमारा यह भू-भाग है।

१. बृहत्क्षेत्रसमाप्त—५, ति. प. ४/६-७, हरिवंश पु. ५/५६०, जीवाभि. सू० ३/२/१७७ स्थानांग—३/१/१३२,
२. द्रष्टव्य—'जम्बूद्वीपः एक अध्ययन' (ले. पू. आधिका ज्ञानमती जी), आ० देशभूषण म० अभिनन्दन ग्रन्थ (जैन धर्म व आचार खण्ड), पृ० १७-१८,
३. भवेद् विदेहयोराद्यं यन्मुहूर्तत्रयं निशः। स्यात् भारतरवतयोः, तदेवान्त्यं क्षणत्रयम्, स्वाद।
भवेद् विदेहयोः रात्रेः तदेवान्त्यं क्षणत्रयम् (लोक प्रकाश—२०/११६-११७) ॥ भगवती सू. ५/१/४-६,
४. बलं विभज्य भूभागे विशाले सकलं समे (आदिपुराण-४४/१०६)। रयणप्पभाए पुढवीए बहुसमरमणिज्जाओ भूमिभागाओ (जीवा-जीवा० सू. ३/१२२) बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे (जम्बू० प० श्वेता०, २/२०)। रयणप्पभापुढवी अंते य मज्जे य सत्वत्थ समा बाहंल्लेण (जीवाजीवा० सू. ३/१/७६)।

(ख) पृथ्वी के स्वरूप में काल-क्रम से परिवर्तन शास्त्रसम्मत

(१) पृथ्वी के दो रूप हैं—शाश्वत व अशाश्वत। जैन आगमों में पृथ्वी के शाश्वत (मूल) रूप का ही वर्णन है, परिवर्तन-शील भूगोल का नहीं।

वस्तुतः पृथ्वी थाली के समान चिपटी व समतल ही थी। किन्तु अवसर्पिणी काल के प्रारम्भ में इस पृथ्वी पर भारी कचरा (कूड़े-मलवे का ढेर) इकट्ठा हो गया, जो कहीं-कहीं तो लगभग एक योजन ऊँचा तक (४००० मील) हो गया है।^१ यह कचरा भरत क्षेत्र के आर्यखण्ड में ही इकट्ठा होता है, शेष म्लेच्छ खण्डों में नहीं। यह कचरा अवसर्पिणी काल के अन्त में (खंड प्रलय के समय) प्रलयकालीन मेघों की ४६ दिनों तक की भयंकर वर्षा से ही नष्ट हो पाता है। प्रलयकालीन मेघ आग वर्षा कर इस बड़े हुए भूभाग को जलाकर राख कर देते हैं।^२ उस समय आग की लपटें आकाश में ऊँचे लोकान्त तक पहुँच जाती है।^३ मेघों की जल-वर्षा से भी पृथ्वी पर कीचड़ आदि साफ होकर, पृथ्वी का मूल रूप दर्पणतलवत् स्वच्छ व समतल प्रकट हो जाता है।^४

पृथ्वी पर काल-क्रम से पर्वतादि के बढ़ने तथा पृथ्वी की ऊँची-नीची हो जाने की घटना का समर्थन जैनतर पुराणों से भी होता है। भागवत पुराण में वर्णित है कि पृथु राजा के समय, पृथ्वी पर बड़े-बड़े पहाड़ (गिरिकूट) पैदा हो गए थे। पृथ्वी से अन्न उपजना भी बन्द हो गया था।^५ उस समय, राजा पृथु ने प्रजा की करुण-पुकार पर पृथ्वी पर बड़े गिरिकूटों को चूर्णकर, भूमि की समतलता स्थापित की थी।^६

(२) जैन-आगम साहित्य में वर्णित है कि द्वितीय तीर्थंकर अजितनाथ के समय द्वितीय चक्रवर्ती सगर महाराज के ६० हजार पुत्रों ने अष्टापद (कैलाश) तीर्थ की सुरक्षा हेतु 'दण्ड रत्न' से चारों ओर परिखा खोद डाली थी। उस परिखा (खाई) को गंगा नदी से धारा (नहर) निकाल कर उसके जल से भर दिया था।^७

कहा जाता है कि बाद में नागकुमार के कोप से वे सभी पुत्र ध्वस्त हो गए थे। इधर गंगा का जल प्रचण्ड वेग धारण करता जा रहा था। सगर चक्रवर्ती की आज्ञा से तब भगीरथ ने गंगा के प्रवाह को बांधने का प्रयास किया, और वापस उस जल को समुद्र की ओर मोड़ दिया।^८

एक अन्य कथा के अनुसार, एकबार शत्रुंजय तीर्थ की रक्षा का भाव चक्रवर्ती सगर के मन में थाया। उसने अपने अधीन व्यन्तर देवों को कहा कि वे लवण समुद्र से नहर ले आवें। देवी शक्ति से उस समुद्र का जल शत्रुंजय पर्वत तक आया, किन्तु मार्ग में पड़ने वाले अनेक देशों व क्षेत्रों के लिए विनाशकारी सिद्ध हुआ। इस महाविनाश से सौधर्म इन्द्र का आसन डोला। अंत में सगर चक्रवर्ती ने समुद्र को आगे बढ़ने से रोक दिया। परिणामतः, जहाँ तक समुद्र प्रविष्ट हो गया था वहीं रुक कर रह गया।

१. पृथ्वी का उच्चतम भाग हिमालय का गौरीशंकर (माउण्ट एवरेस्ट) है जो समुद्रतल से २९ हजार फीट (लगभग), साठे पांच मील ऊँचा है। समुद्र की अधिकतम गहराई ३५४०० फीट (लगभग ६ मील) नापी गई है। इस प्रकार पृथ्वी-तल की ऊँचाई-नीचाई साठे ग्यारह मील के बीच हो जाती है।

शास्त्रों में बताया गया है कि समभूमि से लवणसमुद्र का जल १६ हजार योजन ऊँचा है (त्रिलोकसार, ६१५, समवायांग—१६/११३)।

२. एवंकमेण भरहे अज्जाखंडम्मि जोजणं एकं। चित्ताए उवरि ठिदा दज्झइ वडिड्ढगदा भूमी (तिलोयपणत्ति—४/१५५१) ॥

३. तिलोयप. ४/१५५२

४. (क) ताहे अज्जाखंडं दप्पणतलतुलिदकंति समवट्टं। गयधूलिपंककलुसं होइ समं सेसभूमीहि (तिलोयप. ४/१५५३) ॥ विसग्गिवरि-सदड्ढमही। इगिजोयणमेत्तमधो चुण्णीकिज्जदि हु कालवसा (त्रिलोकसार—८६७) ॥

(ख) भोगभूमि में पृथ्वी दर्पणवत् मणिमय होती है (त्रिलोकसार—७८८)।

(ग) भागवतपुराण में भी संवर्तक वन्हि द्वारा भू-मण्डल के जलने का वर्णन प्राप्त है (भागवत पुराण—१२।४।६-११)।

५. सम्भवतः यह स्थिति अवसर्पिणी के समाप्त होने तथा उत्सर्पिणी के प्रारम्भ के समय की है।

६. चूर्णयन् स्वधनुष्कोट्या गिरिकूटानि राजराट्। भूमण्डलमिदं वैन्यः प्रायश्चक्रे समं विभुः (भागवत पुराण—४।१८।२६) ॥

७. उत्तरपुराण—४८।१०६-१०८, पद्मपुराण (जैन)—५।२४६-२५२,

८. वैदिक परम्परा के भागवत पुराण में सगर-वंश, भगीरथ द्वारा तपस्या करने, शिव द्वारा गंगा के वेग को धारण करने की स्वीकृति, तथा गंगा नदी के पृथ्वी पर अवतरण होने आदि की कथा वर्णित है (द्र. भागवत पु. ६।६।१-१२)।

उक्त कथाओं में उन प्रश्नों का समाधान ढूँढा जा सकता है, जिनमें इस पृथ्वी (दक्षिणार्ध भरत क्षेत्र के आर्यखण्ड के एक छोटे से भू-भाग) पर समुद्र व गंगा आदि नदियों के अस्तित्व को असंगत ठहराया गया है।

(३) इस आर्यक्षेत्र के मध्यभाग के ऊँचे हो जाने से पृथ्वी गोल जान पड़ती है, और उस पर चारों ओर समुद्र का पानी फैला हुआ है और बीच में द्वीप पैदा हो गए हैं। इसलिए, चाहे जिधर से जाएं, जहाज नियत स्थान पर पहुंच जाते हैं।

(४) मध्यलोक का जो भाग ऊपर उठ गया था (जिसके ध्वस्त होने का निरूपण जैन शास्त्रों में वर्णित है) वह भौतिक व पौद्गलिक ही है, और वह इसी पृथ्वी के आसपास के क्षेत्र से निकला होगा। जहां जहां से वह भौतिक स्कन्ध निकला, वहां वहां की जमीन सामान्य स्थिति से भी नीची या ढलाऊ हो गई होगी। भरतक्षेत्र की सीमा पर जो हैमवत पर्वत है, उससे महागंगा और महासिन्धु—ये दो नदियां निकल कर भरत क्षेत्र में बहती हुई लवण समुद्र में जा गिरती हैं। जहां वे दोनों समुद्र में गिरती हैं, वहां से लवण समुद्र का तथा गंगा नदी का पानी जब इस भूमि पर लाया गया तो वह उक्त गहरे व ढलाऊ क्षेत्र में भरता गया। परिणामस्वरूप, बड़े-बड़े सागरों का निर्माण हुआ। वर्तमान पांच महासागरों के अस्तित्व की पृष्ठभूमि में भी यही कारण है। इनके मध्य में ऊपर उठी हुई भूमि बढ़ती गई और उनमें अनेक द्वीप बन गए जिनमें एशिया आदि उल्लेखनीय हैं। वर्तमान में जो गंगा, सिन्धु आदि नदियां प्राप्त हैं, वे कृत्रिम हैं, या मूल गंगा आदि नदियों से निकली जल-राशि से निर्मित हैं।

(५) समस्त जम्बूद्वीप में २-२ सूर्य व चन्द्र माने गए हैं। इसके पीछे रहस्य यह है कि जम्बूद्वीप के ठीक मध्य भाग में जो सुमेरु पर्वत है, वह एक लाख योजन ऊंचा (आधुनिक माप में कई करोड़ मील ऊंचा) है। इसके अतिरिक्त, कई कुलाचल आदि भी हैं। इन पहाड़ों के कारण एक सूर्य का प्रकाश सब तरफ नहीं जा सकता। एक सूर्य-विमान दक्षिण की तरफ चलता है, तो दूसरा उत्तर की तरफ। उत्तरगामी सूर्य निषध पर्वत की पश्चिम दिशा के ठीक मध्य भाग को लांघता हुआ पश्चिम विदेह में (६ घंटों में) पहुंचता है, तो दूसरी तरफ दक्षिणगामी सूर्य नील पर्वत की पूर्व दिशा के मध्य-भाग को पार करता हुआ पूर्व विदेह में (६ घंटों में) पहुंचता है। इस समय भरत व ऐरावत क्षेत्र में रात हो जाती है। उत्तरगामी सूर्य (६ घंटों में) पश्चिम विदेह के मध्य पहुंचता है। दूसरी तरफ दक्षिणगामी सूर्य (उन्ही ६ घंटों में) पूर्व विदेह के ठीक मध्य पूर्वविदेह के मध्य में पहुंचता है। इस समय पश्चिम विदेह व पूर्व विदेह में मध्यान्ह रहता है।

(६) सूर्य, चन्द्रमा—ये दोनों ही लगभग जम्बूद्वीप के किनारे-किनारे में मेरु पर्वत की प्रदक्षिणा देते हुए घूमते हैं, और ६-६ मास तक उत्तरायण-दक्षिणायन होते रहते हैं। इस आर्य क्षेत्र में कई ऐसे स्थान इतने गहरे व नीचे हो गए हैं जिनका विस्तार मीलों तक है। ये स्थान इतने नीचे व गहरे हैं कि जब सूर्य उत्तरायण होता है तभी उन पर प्रकाश पड़ सकता है। कुछ स्थान ऐसे हैं जहां दोनों सूर्यों का प्रकाश पड़ सकता है, और इसलिए उन दोनों स्थानों में दो चार महीने सतत सूर्य का प्रकाश रहता है, तथा सूर्य के दक्षिणायन होने के समय दो चार महीने सतत अन्धकार रहता है।

पृथ्वी की उच्चता व नीचता के कारण ही ऐसा होता है कि एक ही समय कहीं धूप (सूर्य का प्रकाश) होती है तो कहीं छाया। इस तथ्य पर प्रकाश डालने हेतु, आचार्य विद्यानन्दि ने उज्जैन का उदाहरण दिया है। वे कहते हैं, जैसे उज्जैन के उत्तर में भूमि कुछ नीची हो गई है, और दक्षिण में कुछ ऊंची। अतः निचली भूमि में छाया की वृद्धि, और ऊंचे भूभाग में छाया की हानि प्रत्यक्ष होती है।^१ कोई पदार्थ या भू-भाग सूर्य से जितना अधिक दूर होगा, उतनी ही छाया में वृद्धि होगी।^२

(७) सूर्य-विमान के गमन करने की १८४ गलियां हैं। प्रत्येक गली की चौड़ाई $\frac{४८}{६१}$ योजन है। प्रत्येक गली दूसरी गली से २-२ योजन के अन्तराल से है। इस प्रकार कुल अन्तराल १८३ है। अतः कुल 'चार' (Orbit) का विस्तार $(१८३ \times २) + \left(\frac{४८}{६१} \times १८४\right) = ५१० \frac{४८}{६१}$ योजन प्रमाण ठहरता है।

१. ततो नोज्जयिन्या उत्तरोत्तरभूमौ निम्नाया मध्यदिने छायावृद्धिविच्छद्यते। नापि ततो दक्षिणक्षितौ समुन्नतायां छायाहानिः उन्नतेतरा-कारभेदद्वारायाः शक्तिभेदप्रसिद्धेः। प्रदीपादिवद् आदित्याद् न दूरे छायाया वृद्धिघटनात् निकटे प्रभातोपपत्तेः (त०सू० ४।१६ पर श्लोकवार्तिक, खण्ड—५, पृ० ५६३)।

२. तस्य छाया महती दूरे सूर्यस्य गतिमनुमापयति अंतिकेऽतिस्वल्पा (त. सू. ४।१६ पर श्लोकवार्तिक, खण्ड—५, पृ. ५७१)।

जम्बूद्वीप में प्रतिदिन सूर्य के उदयान्तर का कारण उसके 'चार' क्षेत्र की गलियों की दो-दो योजन की चौड़ाई और उसका अपना विस्तार $\left(\frac{४८}{६१} \text{ योजन}\right)$ है।

चन्द्रमा के १५ ही मार्ग (गलियां) हैं। चन्द्रमा को पूरी प्रदक्षिणा करने में दो दिन-रात से कुछ अधिक समय लगता है, इसलिए चन्द्रोदय के समय में अन्तर पड़ता है।

सूर्य अपने (जम्बूद्वीप में) विचरण-क्षेत्र की १८४ गलियों में विचरता हुआ जब भीतरी गली में पहुँचता है, तब दिन का प्रमाण बढ़ जाता है, और प्रभात शीघ्र हो जाता है। किन्तु जब वह ५१० योजन पर बाहरी गली में पहुँचता है, तब भरत क्षेत्र में दिन का प्रमाण छोटा होता है। जब वह मध्यवर्ती मण्डल में पहुँचता है, तब समान दिन-रात (१५-१५ मुहूर्तों के) होते हैं।^१

जम्बूद्वीप में सूर्य की सबसे प्रथम गली चार (Orbit) की प्रथम आभ्यन्तर परिधि (कर्क राशि) है। लवण समुद्र में ३०३ योजन की दूरीपर स्थित गली की अंत की बाह्य परिधि मकर राशि है। आषाढ़ में सूर्य प्रथम गली में या कर्क राशि पर रहते हैं, उस समय १८ मुहूर्त का दिन तथा १२ मुहूर्त की रात्रि होती है। जब सूर्य इस गली से ज्यों-ज्यों बाह्य गलियों में (दक्षिणायन में) चलते हैं, तो गलियों की लम्बाई बढ़ते जाने से, सूर्य की गति तेज होती है। उस समय रात बढ़ती है, और दिन घटता जाता है। माघ के महीने में जब सूर्य मकर राशि—अंतिम गली में पहुँचता है तो दिन १२ मुहूर्त का, तथा रात १८ मुहूर्त की होती है। यहाँ से सूर्य पुनः उत्तरायण को चलते हैं। प्रथम व अंतिम गलियों में सूर्य एक वर्ष में एक बार ही गमन करते हैं, और शेष गलियों में आने-जाने की दृष्टि से एक वर्ष में दो बार गमन करते हैं। अतः एक वर्ष में $१८२ \times २ + २ = ३६६$ दिन होते हैं।^२

(द) स्वर्गीय पं० गोपालप्रसाद जी बरैया जी ने अपनी पुस्तक 'जैन ज्याग्राफी' पुस्तक में लिखा है :—

"चतुर्थ काल के आदि में इस आर्यखण्ड में उपसागर की उत्पत्ति होती है। ये क्रम से चारों तरफ फैलकर आर्य खण्ड के बहुभाग को रोक लेता है। वर्तमान के एशिया, यूरोप, अफ्रीका और आस्ट्रेलिया—ये पाँचों महाद्वीप इसी आर्यखण्ड में हैं। उपसागर ने चारों ओर फैल कर ही इनको द्वीपाकार बना दिया है।"

(९) इसके अतिरिक्त, भूकम्प आदि कारणों से भी, प्राकृतिक परिवर्तन होते हैं, जिनसे नदियां अपनी धारा की दिशा बदल देती हैं, और पर्वतों की ऊँचाई भी बढ़ जाती है। 'भूगोल' एक पौद्गलिक घटना है। उन-उन क्षेत्रों के जीवों के पाप-कर्म से भी निसर्गतः भूकम्प होता है। पृथ्वी के नीचे घनवात की व्याकुलता, तथा पृथ्वी के नीचे बाहर पुद्गलों के परस्पर-संघात (टक्कर) से टूटकर अलग होने आदि कारणों से भूकम्प होने का निरूपण 'स्थानांग' आदि शास्त्रों में उपलब्ध है।^३

बौद्धग्रन्थ 'अंगुत्तर निकाय' से भी ज्ञात होता है कि पृथ्वी के नीचे महावायु के प्रकम्पन से (तथा अन्य कारणों से) भूकम्प होता है।^४

(ग) पृथ्वी में परिवर्तनः विज्ञान-सम्मत

आज के भूगर्भ-वैज्ञानिक इस पृथ्वी के अतीत को जानने की जो चेष्टा कर रहे हैं, वह अतीत की सही जानकारी प्राप्त करने में कितनी सफल होगी, वह तो ज्ञात नहीं। किन्तु इतना तो अवश्य है कि पृथ्वी के महाद्वीप और महासागर आजकल जिस आकार प्रकार के हैं, उनका वही आकार-प्रकार सुदूर अतीत में नहीं था और भविष्य में भी नहीं रहेगा। वैज्ञानिकों ने स्वीकार किया है कि

१. चैत्र व आश्विन मास में (१५-१५ मुहूर्तों के) दिन-रात की यह स्थिति है। (द्र. समवायांग, सू. १५।१०५)। सबसे छोटा दिन या रात १२ मुहूर्त का होता है (द्र. समवायांग—सू. १२/८१, लोक प्रकाश—२०।७५-१०३, चंद्रपण्णति—१।१।९)।
२. द्र० लोक प्रकाश, २०वां सर्ग, सूर्य प्रज्ञप्ति व चन्द्रप्रज्ञप्ति, १०८ प्राप्त, जम्बूद्वीपपण्णति (श्वेता.) ७।१२६-१५०, भगवती सूत्र—५।१।४-२७,
३. स्थानांग—३।४।१६८, भूकम्प के पांच प्रकार होते हैं (द्र. भगवती सू. १७।३।२)।
४. द्र. अंगुत्तर निकाय, ८।७०

सभी महाद्वीप कम या अधिक गति से निरन्तर खिसकते रहे हैं। उसकी अधिकतम गति प्रतिवर्ष चार इंच या लगभग दस सेन्टीमीटर है। आज से करोड़ों वर्ष बाद की स्थिति के बारे में सहज अनुमान लगाया जा सकता है। तब उत्तरी अफ्रीका उत्तर में खिसकता हुआ भूमध्य सागर को रौंदता हुआ यूरोप से जा मिलेगा और भूमध्यसागर भी एक भील मात्र बनकर रह जाएगा। दूसरी तरफ, आस्ट्रेलिया, इंडोनेशिया और फिलिस्तीन एक-दूसरे से जुड़ जाएंगे, और हिन्दचीन से एशिया का भाग जुड़ कर एक नया भूभाग प्रकट होगा। तीसरी ओर, अमेरिका के पश्चिमी तट के समस्त नगर व राज्य एक दूसरे के निकट आ जाएंगे और उत्तरी अमेरिका अत्यन्त चपटे आकार का हो जाएगा।

कुछ वर्ष पूर्व, एण्टार्कटिका महाद्वीप के विस्तृत बर्फीले मैदान पर मिले एक विलुप्त जन्तु के साक्ष्य पर वैज्ञानिकों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि किसी प्रागैतिहासिक युग में आस्ट्रेलिया, दक्षिण एशिया, अफ्रीका व दक्षिण अमरीका महाद्वीप एक दूसरे से जुड़े हुए थे। अब अमरीका के दो वैज्ञानिकों—डा० राबर्ट एस० दिएज और डा० जान सी० होल्डेन ने भी उक्त निष्कर्ष पर सहमत व्यक्त की है और उन्होंने महाद्वीपों के तैरने (फिसलने) की गति, उनकी दिशा, सीमा-रेखाएं, समुद्रगर्भीय पर्वत-श्रेणियों का विस्तार, चुम्बकीय जल-क्षेत्रों की प्राचीन दिशाएं, भूगर्भीय संरचना आदि विषयों पर गहरा अनुसन्धान किया है।

उक्त वैज्ञानिकों ने आज से २२ करोड़ पचास लाख वर्ष पूर्व के भूमण्डल की कल्पना की है। उनके अनुसार तब सभी महाद्वीप एक दूसरे से जुड़े हुए थे और पृथ्वी पर केवल एक विशाल महाद्वीप था। महासागर भी एक ही था। दक्षिणी अमरीका व अफ्रीका दोनों परस्पर सटे हुए थे, और अमरीका का पूर्वी समुद्री तट उत्तरी अफ्रीका के भूखण्ड से चिपका हुआ था। भारत दक्षिण अफ्रीका व एण्टार्कटिका के बीच में कहीं दुबका था। आस्ट्रेलिया एण्टार्कटिका का ही एक भाग था। लगभग ५० लाख वर्ष में इस सबमें विभाजन की रेखा प्रारम्भ हो गई। सबसे पहले दो भाग हुए। उत्तरी भाग में अमरीका व एशिया थे, दक्षिणी भाग में दक्षिणी अमरीका तथा एण्टार्कटिका। अबसे १३ करोड़ ५० लाख वर्ष पूर्व इनके और भी टुकड़े हो गए।

वैज्ञानिकों ने निष्कर्ष निकाला है कि हमारी पृथ्वी के महाद्वीप व महासागर लगभग ८० किलोमीटर या उससे भी अधिक मोटी एक ठोस पदार्थ की पतल पर अवस्थित थे। ठोस पदार्थ की यह पतल लाखों वर्ग किलोमीटर के क्षेत्र में फैली हुई है। ये विशालकाय पतल पृथ्वी के गर्भ-क्रोड़ पर तैरती अथवा फिसलती रहती हैं। यही कारण है कि महाद्वीप व महासागर फिसलते रहते हैं।

डा० जान एम० वर्ड और डा० जान एफ० डेवी नामक अमरीकी वैज्ञानिकों का मत है कि प्राचीन काल में फिसलते हुए जब भारत उपमहाद्वीप का भूखण्ड एशिया महाद्वीप के भूखण्ड से टकराया तो एक गहरी खाई बन गई। दोनों भूखण्ड एक दूसरे को दबाते रहे और उनके किनारे नीचे-नीचे धंसते चले गए। ऊपर का पदार्थ नीचे गर्भ क्रोड़ की तरफ बढता गया। अन्त में जब दोनों भूखण्ड एक दूसरे से जा टकराये, तब उनका अपेक्षाकृत हलका पदार्थ मुख्य भू-भाग से अलग होकर ऊपर उठ गया और बाद में आज के हिमालय पर्वत का आकार ग्रहण कर सका। कहीं-कहीं ऐसा भी हुआ कि महासागर वाली तह खिसक कर महाद्वीप वाली तह के नीचे जा पहुँची, जिससे पृथ्वी की सतह ऊपर उठ आई जिसका परिणाम एंडीज पर्वत श्रेणी के रूप में प्रकट हुआ। (पर्वत श्रेणियों के निर्माण के सम्बन्ध में वैज्ञानिकों में प्रायः एकमत नहीं है। पर्वत-श्रेणियों के निर्माण के विविध मत विज्ञान-जगत् में प्रचलित हैं।)

भारतवर्ष की स्थिति आज जैसी सदा से नहीं है। मारवाड़ में जहां 'ओसिया' है, वहां पहले कभी समुद्र था। इसका प्रमाण यह है कि आज भी ओसिया के आसपास स्थित पहाड़ी में १७ फीट ऊंची, २६ फीट चौड़ी व ३७ फीट लम्बी आकार की काली लकड़ी की विशाल नौकाओं के अवशेष मिले हैं जिससे यह प्रतीत होता है कि सम्भवतः वहां कोई बन्दरगाह था। इस बन्दरगाह के नष्ट हो जाने से यहां के व्यापारी देश के विभिन्न भागों में फैल गये। ये व्यापारी 'ओसवाल' नाम से प्रसिद्ध हैं।

भूगर्भ-शास्त्रियों को हिमाचल पर्वत की चोटी पर सीप, शंख, मछलियों के अस्थि-पंजर प्राप्त हुए हैं जिनसे हिमालय पर्वत की लाखों वर्ष पूर्व समुद्र में स्थित होने की पुष्टि होती है। जिओलोजिकल सर्वे आफ इंडिया के भूतपूर्व डाइरेक्टर डा० वी० एन० चोपड़ा को भारतवर्ष में वाराणसी (उ० प्र०) के एक कूप से एक ऐसा कीड़ा प्राप्त हुआ जिसका अस्तित्व आज से दस करोड़ वर्ष पूर्व भी था। उक्त प्रकार का कीड़ा आज भी आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड व दक्षिणी अफ्रीका में प्राप्त होता है। वाराणसी में इस कीड़े की प्राप्ति से भारतवर्ष का भी अत्यन्त प्राचीन काल में आस्ट्रेलिया आदि की तरह किसी अखण्ड व अविभक्त प्रदेश से सम्बद्ध होना पुष्ट हो जाता है।

(घ) पृथ्वी में क्षेत्रीय परिवर्तन के समर्थक जैनशास्त्र

जैन शास्त्रों से अनेक प्रमाण प्रस्तुत किये जा सकते हैं जिन से यह सिद्ध होता है कि पृथ्वी के बाह्य स्वरूप में भी परिवर्तन होते हैं ।

यहां यह शंका उपस्थित की जा सकती है कि जैनागमों में तो पृथ्वी शाश्वत बताई गई है ।¹ इस स्थिति में उसमें महान् परिवर्तन कैसे सम्भव हैं ? जैन आचार्य पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ में² तथा आचार्य अकलंक ने तत्त्वार्थ राजवार्तिक में³ स्पष्ट लिखा भी है कि भरतादिक क्षेत्र में भौतिक व क्षेत्रीय परिवर्तन सम्भव नहीं हैं ।

क्या इसका कोई ऐसा शास्त्रीय प्रमाण उपलब्ध है जिससे यह सिद्ध होता हो कि भरतादिक क्षेत्र में भौतिक या क्षेत्रीय परिवर्तन हो सकता है ?

उक्त शंका का समाधान इस प्रकार है:—

(१) पृथ्वी का मूल आकार—बाहरी लम्बाई-चौड़ाई, परिधि आदि—पूर्णतः शाश्वत है, यानी उसका विनाश सम्भव नहीं है । बाह्य परिमाण में उच्चावचता अवश्य सम्भव है । इस परिवर्तन के बावजूद उसका मूल सदा अपरिवर्तित रहता है ।

(२) अवसर्पिणी काल में भरत व ऐरावत क्षेत्र के अन्दर, जिस प्रकार क्षेत्रस्थ मनुष्यों की ऊंचाई, आयु, सुख, विभूति आदि में क्रमशः ह्रास होता है, उसी प्रकार, भरत-ऐरावत क्षेत्रों में भी (क्षेत्रीय) परिवर्तन होते हैं ।

(क) तत्त्वार्थ सूत्र के (दिगम्बरपरम्परा-सम्मत पाठ में उपलब्ध) 'ताभ्यामपरा भूमयोऽवस्थिताः' (त० सू० ३/२८) सूत्र से स्पष्ट संकेत होता है कि भरत व ऐरावत क्षेत्र की भूमियां अवस्थित (एक जैसी) नहीं रहती ।

आचार्य विद्यानन्दि ने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक ग्रन्थ में स्पष्ट कहा है कि तत्त्वार्थसूत्र (भरतैरावतयोर्वृद्धि-ह्रासौ षट्समयाभ्यामुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्याम्—३/२७ दिगम्बर-पाठ) में संकेतित परिवर्तन भरतादिकक्षेत्र से सम्बन्धित समझने चाहिए । मनुष्यादिक की आयु आदि में परिवर्तन तो गौण ही हैं ।⁴

(ख) आचार्य विद्यानन्दि ने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (तत्त्वार्थसूत्र-४/१३ पर) में कहा है कि यह पृथ्वी सर्वत्र दर्पणवत् समतल (चौरस-सपाट) नहीं है, क्योंकि जगह-जगह पृथ्वी की उच्चावचता की प्रतीति प्रत्यक्ष हो रही है ।⁵

१. इमाणं भंते रयणप्यभा पुढवी कालओ केवच्चिरं होइ ? गोयमा ! न कयाइ ण आसि ण कयाइ णत्थि ण कयाइ ण भविस्सइ भुविच भवइ य भविस्सइ य धुवा णियया सासया अक्खया अव्वया अवट्ठिया णिच्चा (जीवाजीवा. सू. ३।१।७८)
२. न तयोः क्षेत्रयोर्वृद्धिह्रासौ स्तः, असम्भवात् । तत्स्थानां मनुष्याणां वृद्धि-ह्रासौ भवतः (त. सू. — ३।२७ पर सर्वार्थसिद्धि टीका) । क्षेत्रयोर्वृद्धिह्रासयोरसंगच्छमानत्वात् (त. सू. ३।२७ पर श्रुतसागरीय वृत्ति) ।
३. राजवार्तिक (त. सू. ३।२७)
४. तन्मनुष्याणामुत्सेधानुभवायुरादिभिवृद्धिह्रासौ प्रतिपादितौ, न भूमेः अपरपुद्गलैरिति मुख्यस्य घटनात्, अन्यथा मुख्यशब्दार्थातिक्रमे प्रयोजनाभावात् । तेन भरतैरावतयोः क्षेत्रयोर्वृद्धि-ह्रासौ मुख्यतः प्रतिपत्तव्यौ, गुणभावतस्तु तत्स्थमनुष्याणामिति तथावचनं सफलतामस्तु, ते प्रतीतिश्चानुल्लङ्घिता स्यात् (त. सू. ३।१३ पर श्लोकवार्तिक, खण्ड—५, पृ. ५७२) ।
५. न वयं दर्पणसमतलामिव भूमिं भाषामहे, प्रतीतिविरोधात् । तस्याः कालादिवशादुपचयापचयसिद्धेर्निम्नोन्नताकारसद्भावात् (त. सू. ४/१६ पर श्लोकवार्तिक, खण्ड—५ पृ. ५६३) ।

जैन मतानुसार काल-क्रम के साथ प्रत्येक भौतिक पदार्थ में वर्ण-रसादिगत परिवर्तन स्वभावसिद्ध हैं ।^१

(ग) शाश्वती वस्तु में भी परिवर्तन होते हैं, इसके समर्थन में आ० आत्मारामजी कृत 'सम्यक्त्व शल्योद्धार' का कथन यहां मननीय है—“शाश्वती वस्तु घटती-बढ़ती नहीं, सो भी झूठ है । क्योंकि गंगा-सिन्धु का प्रवाह, भरतखण्ड की भूमिका, गंगा-सिन्धु की वेदिका, लवण-समुद्र का जल बगैरह घटते-बढ़ते रहते हैं ।”^२

(घ) आ० विनयविजयगणि कृत लोकप्रकाश' ग्रन्थ में,^३ तथा उत्तर पुराण,^४ पद्मपुराण,^५ तिलोयपणत्ति,^६ चन्द्रप्रभचरित^७ आदि ग्रन्थों में स्पष्टतः क्षेत्र को ही हानिवृद्धिगत निरूपित किया गया है ।

(ङ) अगर क्षेत्रीय परिवर्तन स्वीकार न किया जाए तो भोगभूमिकाल के अंत में, चौदहवें कुलकर नाभिराय के समय कल्पवृक्षों का नष्ट होना,^८ उन्हीं के समय बिना बोये धान्य पैदा होना,^९ बारहवें कुलकर के समय अदृष्टपूर्व कुनदियों व कुपर्वतों का उत्पन्न हो जाना,^{१०} प्रलयकाल (अवर्सापिणी के अंतकाल में) ग्राम-नगरादि का नाश,^{११} गंगा व सिन्धु नदियों को छोड़ कर सभी नदियों की समाप्ति,^{१२} गंगा-सिन्धु नदियों का विस्तार रथ या बैलगाड़ी जितना संकुचित होना,^{१३} तीर्थकर के केवल ज्ञान-लाभ के समय तीनों लोकों में प्रक्षोभ होना,^{१४} तथा उत्सर्पिणी के प्रारम्भ में पुनः नगरादिकों, पर्वतों, नदियों आदि का पुनः निर्माण हो जाना^{१५} आदि परिवर्तनों की संगति कैसे हो सकेगी ?

(च) अनुयोगद्वार-सूत्र में उल्कापात, चन्द्र-ग्रहण, इन्द्र-धनुष, एवं ग्राम, नगर भवन आदि की श्रेणी में ही भरत आदि क्षेत्रों, हिमवत् आदि पर्वतों तथा रत्नप्रभा आदि पृथिवियों को सादि-पारिणामिक बताया गया है ।^{१६} यहां टीकाकार पू० आ० घासीलाल जी महाराज ने शंका उठाई है कि वर्षाधर पर्वतादि तो शाश्वत हैं, फिर वे सादिपारिणामिक कैसे ? इस शंका का समाधान

१. अनुयोगद्वार सूत्र, ८६, स्थानांग—३/४/४६८
२. सम्यक्त्व शल्योद्धार, पृ. ४५
३. नानावस्थं कालचक्रैर्भरितं क्षेत्रमीरितम् (लोकप्रकाश—१६/१); तथा वहीं, १६/१०१-१०३
४. ऐरावतं समं वृद्धिहानिभ्यां परिवर्तनात् (उत्तर पुराण—६२/१६) ।
५. षष्ठकालक्षये सर्वं क्षीयते भारतं जगत् । धराधरा विशीर्यन्ते मर्त्यकाशे तु का कथा (पद्म पुराण-जैन, ११७/२६) ।।
६. अवसेसवण्णणाओ सुसमस्स व होति तस्स खेतस्स । णवरि य संठितरूबं परिहीणं हाणिवड्ढीहि (तिलोयप०—४/१७४४) ।।
७. भरतेरावते वृद्धिहानिसिनी कालभेदतः (चन्द्रप्रभचरित, १८/३५) ।
८. कल्पवृक्षविनाशे क्षुधितानां युगलानां सस्यादिभक्षणोपायं दर्शयति (त. सू. ३/२७ पर श्रुतसा. वृत्ति), तथा तिलोयप०—४/४६७.
९. अकृष्टपच्यानि सस्यादीनि चोत्पद्यन्ते (त. सू. ३/२७ पर श्रुतसा. वृत्ति), तथा तिलोयप. ४/४६७
१०. कुनद्यः कुपर्वताश्चोत्पद्यन्ते (त. सू. ३/२७ पर श्रुतसा. वृत्ति), कद्मपबहणदीओ अदिट्टुपुव्वाओ (तिलोय प. ४/४८५) ।
११. पव्वयगिरिडोंगरुत्थलभट्टिमादीए य वेयड्ढगिरिवज्जे विरावेर्हिंति (भगवती सू. ७/६/३१), जंबूदीव प. (श्वेता.) २/३७,
१२. सलिलविलगदुग्गविसमनिण्णुन्ताइं गंगासिंधूवज्जाइं समीकरेहिंति (भगवती सू. ७/६/३१), तथा जंबूदीव प. (श्वेता.) २/३६,
१३. गंगासिंधूओ महानदीओ रहपहवित्थाराओ (भगवती सू. ७/६/३४) ।
१४. तिलोय प. ३/७०६
१५. भरहे वासे भविस्सइ परूढरक्खगुच्छगुग्गमलयवल्लितण-पव्वयगहरियगभो सहिए, उवच्चियतयपत्तवालंकरुपुप्फलसमुइए सुहोवभोगे यावि भविस्सइ (जंबूदीव प.—श्वेता. २/३८) ।
१६. साइपारिणामिए अणेगविहे पणत्ते । तं जहा.....चंदोबरागा सूरुवरागा.....इंदधणु.....वासधरा गामा णगरा धरा पव्वया पायाला भवणा निरया रयणप्पहा.....परमाणुपोग्गले दुपएसिए जाव अजंतपएसिए (अनुयोग द्वार सूत्र, १५६) ।

करते हुए वे कहते हैं कि वर्षधरादि में जो शाश्वतपना है, वह उनका 'अपना आकार न छोड़ना' ही है। शाश्वतपना होने से उनमें परिणमन होने का निषेध नहीं संभ्रमना चाहिए।^१

प्रत्येक भौतिक संरचना में संघटन-विघटन की प्रक्रिया प्राकृतिक नियमों के अनुरूप होती रहती है। विघटन-पर्याय को प्राप्त परमाणु प्रतिसमय (जघन्यकाल) दूर होते रह सकते हैं और संघटन-पर्याययोग्य दूसरे असंख्य परमाणु उनमें संयुक्त हो सकते हैं। एक सुदीर्घ अवधि के बाद, एक-एक करके उस संस्थान के सारे परमाणु बदल जाते हैं, इसके बावजूद, सामान्य दृष्टि में यह संस्थान ज्यों का त्यों अपरिवर्तित कहा जाता है। संभवतः इसी दृष्टि से जम्बूद्वीपादि को शाश्वत व अशाश्वत—दोनों कहा गया है।^३

(छ) सर्वार्थसिद्धिकार व राजवार्तिककार द्वारा भरतादिक्षेत्रगत परिवर्तन के निषेध कर दिये जाने का तात्पर्य इतना ही है कि पृथ्वी एक शाश्वत इकाई है—यह न कभी बनेगी और न नष्ट होगी।^१ जैसे, किसी एक घर में अनेकानेक प्राणियों के मरते जन्मते हुए भी घर ज्यों का त्यों रहता है। उस घर में समय-समय पर परिवर्तन (मरम्मत, परिष्कार आदि) भी हुए हैं, पर वह घर जितनी जमीन घेरे था, उतनी ही जगह पर है, घटा-बड़ा नहीं है। इसलिए उस घर को नष्ट नहीं मानते और नहीं उसे दूसरा घर समझ बैठते हैं। उसी तरह, अनेक नगर ऐसे हैं जिनके नाम सदियों से चले आ रहे हैं। यद्यपि उन नगरों में अनेक भौतिक परिवर्तन हो गए हैं, किन्तु उन्हें दूसरे नगर के रूप में नहीं माना जाता। पृथ्वी में भी यत्र-तत्र, कालक्रम से, परिवर्तन होते हुए भी परिमाण में वह ज्यों की त्यों है। दूसरी बात, पृथ्वी आदि में जो परिवर्तन होता है, वह उसके मूलरूप को नष्ट नहीं करता, भले ही प्रभावित अवश्य करता हो। अस्तु, शास्त्रों में जो पृथ्वी का निरूपण है, वह मूल रूप का ही है। कालगत सामयिक वृद्धि-ह्रास होने पर भी मूल की अवृद्धि-अहानि को देखते हुए, भरतादि क्षेत्र में अपरिवर्तनीयता का निरूपण पूर्णतः संगत होता है। भरतादि क्षेत्रों में परिवर्तन असम्भव मानने के निरूपण को उसी प्रकार समझना चाहिए जैसा कि आत्मा को अबद्ध व अस्पृष्ट मानना, जबकि कर्मबन्ध की प्रक्रिया का शास्त्रों में विस्तार से निरूपण भी मिलता हो।

वस्तुतः, पृथ्वी में परिवर्तन व अपरिवर्तन—ये दो कथन अनेकान्तात्मक प्रवचन (समग्र) के दो अंश (भाग) हैं। सर्वज्ञ वचन तो उभयनयात्मक है। एक तरफ भरतादिक्षेत्रों के पर्वतादि का आकार-परिमाण नियत कर दिए गए हैं, दूसरी तरफ, उत्पादव्ययात्मक पौद्गलिक परिवर्तन का भी शास्त्रों में निरूपण है, साथ ही उत्सर्पिणी-आदि काल-चक्रानुरूप क्षेत्रीय परिवर्तन का भी संकेत है। व्याख्याता को चाहिए कि वह दोनों प्रवचनैकदेशों में परस्पर-बाधकता उद्भावित न करे, बल्कि समन्वय का प्रयास करे, वशतः प्रत्यक्षादि-प्रतीति से विरोध न हो। प्रायः इसी भाव को आचार्य विद्यानन्दि ने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में व्यक्त किया है।^४

(ज) राजवार्तिककार आ० अकलंक जहां भरतादि में क्षेत्रगत वृद्धि-ह्रास न होने का निरूपण करते हैं, वह भरतादि क्षेत्र की 'निवृत्तावधिकृता' को लक्ष्य में रख कर है, न कि सामान्य परिवर्तन को लक्ष्य कर।^५

यहाँ यह शंका की जा सकती है कि आगमों में जो सर्वज्ञ तीर्थंकर की वाणी है, इस भावी भौगोलिक परिवर्तनों का संकेत क्यों नहीं किया गया? आज विज्ञान जिस प्रकार प्रमाण सहित यह बताने में सक्षम है कि इतने वर्षों पूर्व, अमुक रीति से, अमुक-अमुक क्षेत्रीय परिवर्तन हुए हैं, किसी तीर्थंकर ने अपने अतीत या भावी परिवर्तनों का संकेत क्यों नहीं किया? इसका सीधा-सा समाधान यह

१. ननु वर्षधरादयः शाश्वताः, न ते कदाचिदपि स्वकीयं भावं मुञ्चन्ति, तत्कथं पुनरेषां सादिपारिणामिकत्वमुक्तम् ? इति चेदाह—वर्षधरादीनां शाश्वतत्वं तदाकारमात्रेणैव अवतिष्ठमानत्वात् बोध्यम् (अनुयोगद्वार सूत्र, सू. १५६ पर पू. श्री घासीलाल जी म. कृत टीका)।
२. जंबूद्वीवे.....सिय सासए सिय असासए (जंबूद्वीव प. श्वेता.—७/१७७), दब्बट्टियाए सासए, वण्णपज्जवेहि.....असासए, (वहीं, तथा द्र. जीवाजीवाभिगम सू. ३/२/७८)।
३. उपर्युक्त,
४. तत एवं सूत्रद्वयेन भरतैरावतयोस्तदपरभूमिषु च स्थितेर्भेदस्य वृद्धिह्रासयोगायोगाभ्यां विहितस्य कथनं न बाध्यते (त. सू.—३।२८ पर श्लोकवार्तिक, खण्ड—५, पृ. ३४८-४९)।
५. इमौ वृद्धि-ह्रासौ, कस्य, भरतैरावतयोः। ननु क्षेत्रे व्यवस्थितावधिके, कथं तयोर्वृद्धिह्रासौ ? अतः उत्तरं पठति—तात्स्थ्यात् ताच्छब्दसिद्धिर्भरतैरावतयोर्वृद्धिह्रासयोगः (राजवार्तिक, ३।२७)।

हैं कि आगमों में उक्त परिवर्तन के मौलिक सिद्धान्तों का निरूपण यत्र-तत्र-सर्वत्र हुआ है। दूसरी बात, अनन्त, पदार्थों के अनन्त धर्मों में से कुछ का ही कथन सम्भव होता है। प्रज्ञापनीय पदार्थों में से भी अनन्तवां भाग 'श्रुत' आगमों में निबद्ध हो पाता है।^१ समस्त श्रुत का बहुत थोड़ा सा भाग अब सुरक्षित रह गया है। कई विषयों के उपदेश भी विच्छिन्न हो गए हैं जिसका संकेत भी जैन शास्त्रकारों ने यत्रतत्र दिया है।^२ सम्भव है, दृष्टिवाद (द्वादशांग) के लुप्त भाग में वे सब बातें हों जो अब उपलब्ध होतीं तो वैज्ञानिक जगत् उपकृत होता, साथ ही विज्ञान से तथाकथित विरोध की स्थिति भी पैदा नहीं होती।

जैन आगमों व शास्त्रों में अनेक सिद्धान्त ऐसे हैं जो परवर्तीकाल में वैज्ञानिक जगत् में आविष्कृत व समर्थित हुए। अनेक वैज्ञानिकों ने जैन आचार्यों की सूक्ष्मदर्शिता को स्वीकारा है। आज आवश्यकता है जैन आगमों व शास्त्रों के गम्भीर अध्ययन की, और अपेक्षा है कुतर्क छोड़ कर श्रद्धा-भावना की^३, तभी इस शास्त्रों से अमूल्य विचार-रत्नों को हम ग्रहण कर सकते हैं।

१. (क) पणवणिज्जा भावा अणंतभागो दु अणभिलप्पाणं ।
पणवणिज्जाणं पुण अणंतभागो सुदणिबद्धो ॥ (गोम्मटसार, जीवकाण्ड, ३३४)
शब्दाश्च सर्वे संख्येया एव, द्रव्यपर्यायाः पुनः संख्येयासंख्येयानन्तभेदाः (राजवार्तिक, १/२६/४)।
अवाच्यानामनन्तांशो भावा प्रज्ञाप्यमानकाः ।
प्रज्ञाप्यमानभावानाम्, अनन्तांशः श्रुतोदितः ॥ (गोम्मट जी० का० ३३४ पर कर्णाटवृत्ति, पृ० ५६६)
- (ख) जिनवाणी एक समुद्र है, शास्त्र तो उसमें से गृहीत जल-बिन्दु के समान हैं—
जिनवयणमिवोवही सुहयो (षट्खण्डागमधवला १/१/१, गाथा-५०, पृ० ६०) ।
कथितं तत्समुद्रस्य कणमेकं वदाम्यहम् (पद्यपुराण १०५/१०७) ।
- (ग) सर्वज्ञ जिनेन्द्र देव के मुख से भव्य-जनकल्याणार्थ ज्ञान-पुष्पों की वृष्टि होती है, जिसे कुशल गणधर अपने बुद्धि रूपी वस्त्र में ग्रहण करते हैं—
तवनियमनाणस्खं आरूढो केवली अभियनाणी ।
तो म्यइ नाणवुट्ठि भवियजणविबोहणट्टाए ॥
तं बुद्धिमएण पडेण गणहरा गेन्हिउं निरवसेसं ।
तित्थयर-भासियाइं गंथंति तओ पवयणट्टा ॥ (विशेषावश्यक भाष्य-१०६४-१०६५)।
२. (क) उवएसो अम्ह उच्छिण्णो (ति० प० ४/१४७१) । अम्हाण णत्थि उवदेसो (यि० प० ४/१५७२) । उवदेसो संपइ पणट्ठो (ति० प० ४/२३६६) ।
- (ख) श्वेताम्बर परम्परा में १२वां अंग दृष्टिवाद पूर्णतः नष्ट हो गया है—
सव्वत्थ वि णं वोच्छिन्ने दिट्ठिवाए (भगवती सूत्र, २०/८/६) । एतच्च सर्वं समूलोत्तरभेदं सूत्रार्थतो व्यवच्छिन्नम् (समवायांग सूत्र टीका) ।
दिगम्बर-परम्परा में दृष्टिवाद का कुछ अंश (षट्खण्डागम व कषायपाहुड ग्रन्थों के रूप में) अवशिष्ट हैं—
तदो सव्वेसिमंगपुव्वाणमेगदेसो आइरिय-परम्पराए आगच्छमाणो धरसेणाइरियं संपत्तो...महाकम्मपयडिपाहुडस्स वोच्छेदो होहदित्ति समुप्पण्णबुद्धिणा पुणो दव्वपंमाणानुगमादि काऊण गंथरचना कदा (षट्खण्डागम-धवला १/१/१ पृ० ६८, ७२) ।
३. आगमस्य अतर्कगोचरत्वात् (धवला १/१/२५, पृ० २०७) । प्रत्यक्षागमबाधितस्य तर्कस्य अप्रमाणत्वात् (गोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा १६६ पर कर्णाटवृत्ति—जीव प्र० टीका) । सूक्ष्मं जिनोदितं तत्त्वं हेतुभिर्नैव हन्यते । आज्ञासिद्धं तु तद् ग्राह्यं नान्यथावादिनो जिनाः (आलापपद्धति, ५) । प्रत्यक्षं तद् भगवतामर्हतां तैश्च भाषितम् । गृह्यतेऽस्तीत्यतः प्राज्ञैर्न छद्यस्थ-परीक्षया (राजवार्तिक, १०/६/श्लोक-३२) ॥
तुलना—श्रद्धावांल्लभते ज्ञानम् (गीता ४/३६) । तर्कस्याप्रतिष्ठानात् (ब्रह्मसूत्र-२/१/१) । तर्कोऽप्रतिष्ठः (महाभारत, वनपर्व, ३१३/११७) । कुतर्क के कारण जो संशय-ग्रस्त हैं, उनके अन्तःकरण में ईश्वर का वास असम्भव है—ससंशयान् हेतुबलान्, नाध्यावसति माधवः (महाभा० शांति पर्व, ३४६/७१) ।